आठ एकांकी

डा० सूर्यक एम० ए०

प्रकाशक
स० चन्द एण्ड कम्पनी
दिल्ली जालन्धर।

आठ एकांकी

डा० सूर्यकान्त एम० ए० डी० लिट् (पंजाब)
डी० फिल० (ऑक्सन)
आफीसर द आकादमी (फ्रांस)
अध्यक्ष संस्कृत विभाग
पूर्वीय पंजाब विश्वविद्यालय
जलंधर

प्रकाशक
एस० चन्द एण्ड कम्पनी
दिल्ली, जालन्धर।

प्रकाशक—
गौरीशंकर शर्मा, मैनेजर,
एस० चन्द एण्ड कम्पनी,
फ़व्वारा—दिल्ली।

दूसरी बार १९५०
मूल्य दो रुपये

मुद्रक
लाला विश्वानाथ कपूर,
आक्सफोर्ड एण्ड कैम्बरिज प्रेस,
मछली मन्डी, देहली।

नाटक-सूची

दो शब्द

संस्कृत हिन्दी की जननी है और उसी से इसे नाटक साहित्य की देन मिली है। संस्कृत में नाटक सुखांत रहते थे; हिन्दी में भी बहुधा वे उसी पद्धति पर चलते रहे। संस्कृत में नाटक साहित्य का प्रमुख दृष्टिकोण धार्मिक रहता था; हिन्दी में भी प्रारंभ में ऐसा ही हुआ। एक शब्द में अपनी अन्य विधाओं के समान हिन्दी साहित्य अपनी नाट्य-विधा में भी संस्कृत के पीछे चला और उसी के उद्देश्यों और शैलियों को लेकर अपने जीवन में अग्रसर हुआ।

आखिर समय बदला, जीवन बदला, आवश्यकताएं बदली और जीवन के व्याख्यान के प्रकार में भी परिवर्तन हुआ। प्राचीन युग में नाटक लम्बे होते थे और लंबे लंबे अङ्कों में बंटे होते थे। लंबे नाटक पढ़ने के लिए उस युग में पाठकों के पास समय था और वे उन नाटकों को प्रेम से पढ़ते थे और बड़े प्रेम और श्रद्धा से उनके यदा-कदा होने वाले अभिनय को देखते थे।

पुराना ज़माना जब लद गया तब उसकी बातें और अदाएं भी उठ गईं और आदमी को थोड़े समय में चुभती चीज़ें पढ़ कर और देख कर मनोविनोद की ज़रूरत अनुभव हुई। फलतः लम्बे नाटक उठ गये और उनकी जगह छोटे अर्थात् एकाङ्की नाटकों ने ली।

एकाङ्की नाटक में जीवन का एक अंश, परिवर्तन का एक क्षण, वातावरण से आन्दोलित घटनाजाल का एक तन्तु, जीवन में एक दिन की तरह और दिन में एक घंटे की तरह

व्यक्त होता है। जीवन और साहित्य में संक्षेप की आवश्यकता पड़ते ही अनेक अंकों का नाटक एक अङ्क का बन गया और उसमें जीवन के फड़कते पहलू का चुटीला वर्णन या अभिनय किया जाने लगा।

आज हिन्दी साहित्य में जितने पूर्ण नाटक लिखे जा रहे हैं। उतने ही एकाङ्की भी; और कोई बड़ी बात नहीं यदि कुछ दिन बाद ये एकाङ्की लम्बे नाटकों को साहित्यक्षेत्र से मार भगावें; किन्तु ऐसा होना अनिष्ट होगा और आशा है हमारे जीवन में और तदनुसार हमारे जीवन के व्याख्यानरूप साहित्य में कल्याणकारी परिवर्तन होगा और हम फिर से पूर्ण नाटक पढ़ने के शौक़ीन बनेंगे और जीवन की छोटी-छोटी झांकी लेने की अपेक्षा उसकी पूरी झांकी लेने के आदि बनेंगे, तब लम्बे नाटकों की क़द्र फिर से बढ़ जायगी और एकाङ्की नाटक यदा-कदा पढ़े और खेले जाते रहेंगे।

एकाङ्की के वस्तुतत्त्व वे ही हैं जो सामान्य नाटक के; उनके विषय में यहां विस्तार से लिखना जहां अध्यापकों के लिये अनपेक्षित है, वहां किशोर छात्रों के लिये अनावश्यक-सा है। इन तत्त्वों का विस्तार नाट्य-साहित्य पर लिखी आलोचनात्मक पुस्तकों में पर्याप्त मिल जाता है।

प्रस्तुत संग्रह में श्री रामकुमार, गोविंददास, उदयशंकर, प्रेमी, अश्क, अवस्थी, कमलाकान्त तथा विष्णु प्रभाकर के श्रेष्ठ एकाङ्की संगृहीत हैं। ये सब विद्वान् धन्यवाद के पात्र हैं और हम उन्हें हृदय से धन्यवाद देते हैं।

सूर्यकान्त

जीवनी

डा० रामकुमार वर्मा आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ एकांकीकार हैं। यह उच्च-कोटि के कवि, विचारक और गंभीर आलोचक हैं। इनकी एकांकी नाट्य कला की सब से बड़ी विशेषता है कि यह मानव-मन का सूक्ष्मातिसूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं। इनकी कला सौंदर्य की प्रतिमा है। यह अपनी कवित्वमय मधुर भाषा से पात्रों के जीवन में चारित्रिक द्वन्द्व—उनके अतिरिक्त जगत् के संघर्षों को सामने रखते हैं। इनके प्रायः सभी नाटक रंगमंच का शृंगार बने हैं।

× × ×

'चम्पक' में कवि की कोमलता, सहृदयता और परोपकारी भावनाओं की सुन्दर झांकी है। दीन-हीन पीड़ित प्राणियों की सेवा किशोर के कवि की कल्पनात्मक उड़ान नहीं, जीवन की सच्ची अनुभूतियों की परिचायक हैं। वह मानव अमानव की पीड़ा को एक तुला में तोलता है।

पश्चात्ताप, अपराध, ममता के सजीव चित्रण के साथ लेखक ने मोह और कर्तव्य के सुन्दर संघर्ष की सृष्टि की है।

वृद्ध भिखारी के जीवन की असमानता विषमता को लेखक ने आदर्शवाद के आवरण में छिपा लिया है।

चंपक

पात्र—परिचय

चंपक—	एक छोटा-सा सुन्दर कुत्ता		
किशोर—	हिंदी-साहित्य के सुकवि	आयु	तीस वर्ष
शकुन्तला—	एक संभ्रांत युवती	आयु	बीस वर्ष
मालती—	शकुन्तला की सेविका	आयु	पच्चीस वर्ष
ललिता—	किशोर की छोटी बहन	आयु	सात वर्ष
वृद्ध—	एक भिखारी	आयु	पचास वर्ष

चंपक

[समय—सात बजे प्रभात। एक साफ-सुथरा कमरा। अनेक स्थानों पर सुंदर चित्र लगे हैं। एक अल्मारी में कुछ पुस्तकें सजी हुई हैं। कमरे के बीच में एक बड़ा-सा कालीन बिछा हुआ है, जिससे कमरे की शोभा और भी बढ़ गई है। एक ओर छोटी टेबिल है, जिस पर ताज़े फूलों का एक गुलदस्ता रक्खा हुआ है। जो वस्तुएँ वहां हैं, उन से यह प्रकट होता है कि इस कमरे में रहनेवाला कवि-हृदय अवश्य है। सजावट में ही सभी वस्तुओं की रूप-रेखा है। खिड़की से पूर्वीय आकाश दिखाई पड़ता है, जिसमें सुनहले बादल छाए हुए हैं! कमरे को जैसे बसंत आकर चूम गया है।

कमरे में दाहिनी ओर कुर्सी पर एक युवक बैठा है। उसका मान है किशोर। आयु तीसवर्ष के लगभग। वस्त्रों में स्वच्छता और सरुचि है। आँखों में गांभीर्य। बाल बड़े-बड़े घुँघराले हैं, जो उसकी पीठ पर छा रहे हैं। उसके समीप टेबल पर एक छोटा-सा कुत्ता बैठा हुआ है। उसके बड़े-बड़े बाल हैं। माथे में सफेद चिह्न। किशोर बड़े प्रेम से कुत्ते पर हाथ फेरकर कहता है, जैसे स्वप्न-मग्न हो।]

किशोर—चंपक, एक बार तुम्हें देख लेता हूँ, तो जान पड़ता है, [खिड़की की ओर दृष्टि कर] प्रभात का नन्हा-सा बादल आंखों में झूल गया है। ये देखो, [कुत्ते के कान कोमलता से छूते हुए] तुम्हारे कान, जैसे रेशम के दो छोटे-छोटे टुकड़े ईश्वर ने तुम्हारे सिर के समीप गूंथ दिए हैं। तुम्हारी कोमल पूंछ इन्द्रधनुष के समान झुकी हुई है, और तुम्हारी आंखें ? क्यों ? मेरी बोली समझते हो चंपक ?······[रुककर] लोग कहते हैं, मैं कवि हूं। पर मेरी कविता

तुम्हारे सुनहले बालों के कारण ही सुनहली है। [चंपक को गोद में रखते हुए] ······उस दिन तुहें देखकर एक कविता लिखी थी—

[स्वर में]

रेशम-सी इस केश-राशि में
उलझा रहे मधुर जीवन;
मेरे मन में यह तन हो,
इस तन में ही हो मेरा मन।
[भाव-मग्न होकर]
इस··तन···में···ही···हो···
मेरा···मन··············।

[बाहर किसी के आने का शब्द होता।]

किशोर—[तीव्र स्वर में] कौन ?

स्वर—महाशयजी, मैं आ सकती हूं ?

किशोर—[स्व-गत] किसी रमणी का कोमल कंठ-स्वर ! [प्रकट] आइए।

[दो युवतियों का प्रवेश। दोनों लगभग एक ही वय की हैं। पच्चीस वर्ष। एक अधिक कीमती वस्त्र पहने हुए है। रेशमी साड़ी से कोमल शरीर सजा हुआ है। उसकी मुद्रा से ज्ञात होता है कि वह एक संभ्रांत परिवार की महिला है। नाम है शकुन्तला। उसके हाथ में एक समाचारपत्र है। दूसरी युवती उसको सेविका मालूम पड़ती है। वह साधारण वस्त्र पहने हुए है। सदैव अपनी स्वामिनी का रुख देखकर बातें करती है। उनके आते ही किशोर खड़ा हो जाता है। सेविका का नाम है मालती।]

शकुन्तला—[जिज्ञासा की दृष्टि से] आप ही का नाम किशोर है ?

किशोर—[आगे बढ़कर] जी हाँ।

मालती—वही, जिनकी कविताएँ 'रसाल-वन' में निकला करती हैं?

किशोर—हाँ, वही।

शकुन्तला—जिनकी 'चंपक'-शीर्षक कविता ने हिंदी-संसार में हलचल मचा दी है?

किशोर—[मुस्कराकर] इस प्रशंसा के लिये धन्यवाद! मैं वही किशोर हूँ।

युवती—[समाचार-पत्र देखते हुए] आपने इस समाचार-पत्र में सूचना प्रकाशित की है कि आप एक सुन्दर कुत्ता बेचना चाहते हैं।

मालती—क्या वह यही है?

[कुत्ते की ओर संकेत]

किशोर—हां, वह यही है।

शकुन्तला—[प्रश्न-सूचक दृष्टि से] क्यों, क्या मैं जान सकती हूं कि आप इसे क्यों बेचना चाहते हैं?

किशोर—[गहरी साँस लेकर] इसकी एक लम्बी कहानी है। उसे पूछने की आवश्यकता नहीं। यदि आप इसे ख़रीदना चाहती हैं, तो यह आपकी सेवा में उपस्थित है। लीजिए।

शकुन्तला—आपकी कहानी ही मेरे लेने-न लेने का कारण हो सकती है।

मालती—निस्संदेह।

किशोर—यदि ऐसी बात है, तो सुनिए। [सोचते हुए] पिछले महीने की बात है। हलका जाड़ा पड़ रहा था। शुक्ल पक्ष की रात थी। चन्द्र की शीतल किरणें पृथ्वी का सारा विषाद धो रही थीं।...

शकुन्तला—इस कहानी में कविता भी है?

[हास्य]

किशोर—या कविता में कहानी है!

शकुन्तला—[मुस्कराकर] क्षमा कीजिए। मैं भूल गई थी कि मैं एक कवि से बातें कर रही हूं। अच्छा, फिर क्या हुआ?

किशोर—[गम्भीर स्वर में] मैं टहलने के लिए एकांत स्थान

में जा रहा था कि एक ओर यह कुत्ता पड़ा हुआ अपने जीवन की अन्तिम सांसें छोड़ रहा था—मुझे करुण नेत्रों से देखकर।

शकुन्तला—[उत्साह से] तब तो आप बड़े अच्छे हैं। आज यह कितनी अच्छी दशा में है !

[कुत्ते की ओर ध्यान से देखती है।]

मालती—[शकुन्तला के स्वर में] देखिए, कितनी अच्छी दशा में है !

किशोर—[उसी गम्भीर स्वर में] मैं उसे उठा लाया। बहुत सेवा की। जो कुछ मेरे पास था, मैंने इसे अच्छा कराने में समाप्त कर दिया। अब यह कैसा गुलाब-सा सुन्दर और हृदय-सा चंचल हो रहा है।

शकुन्तला—[प्रशंसा के स्वर में] आपका परिश्रम, सफल परिश्रम। यदि इस कुत्ते के मन में समझने की शक्ति है, तो आप ही इसके ईश्वर हैं, जीवनदाता हैं।

किशोर—ईश्वर तो एक बहुत बड़ी शक्ति है। मेरे हाथ तो मेरे जीवन के समान ही निर्बल हैं। मैं कर ही क्या सकता हूं ? केवल सेवा, केवल प्रेम।

शकुन्तला—कविवर, मेरे लेखे यही ईश्वरत्व है।

मालती—[युवती की ओर देखकर] निस्संदेह।

किशोर—उस दिन से यह चंपक मेरे जीवन का सब कुछ हो गया.........।

शकुंतला—[बीच ही में हर्ष से] चंपक ! ओहो, नाम भी आपने कितना सुदन्र ! रखा है ! चंपक !!

मालती—कितना सुन्दर ! चं प क !!

किशोर—प्यारा चंपक ! इसे देखते ही न-जाने क्यों मेरे मन में यह नाम आ गया ! शायद इसमें इतना सौंदर्य है। [चंपक को हाथ में उठा लेता है।] कुरूपता के काले भौंरे को यह अपने समीप

नहीं आने देना चाहता।

शकुंतला—[उल्लास से] सचमुच !

किशोर—[चंपक पर हाथ फेरते हुए] मैं जब टहलने जाता हूँ, तो धूम्रकेतु की भांति मेरे पीछे इसी की रेखा होती है। मुझे भय होता है, कहीं इसके पैर मैले न हो जायें। जब मैं भोजन करता हूं, तो मेरे समीप बैठकर मेरे जूठे भोजन की लालसा करता है। मुझे भय होता है, कहीं कड़ी रोटी इसके मुंह में पहुँचकर कष्ट न दे। इसलिये मैं स्वयं कड़ी रोटी खाकर इसके लिए कोमल हिस्सा छोड़ देता हूँ। जब मैं सोता हूं, तो मेरे पैरों के समीप आकर मेरे लिहाफ में छिप रहता है। बहुत धीरे से मेरे पैरों पर अपना सिर रख देता है, मानो रात-भर मेरे चरणों के समीप बैठकर मेरी आराधना करता रहता है। मुझे भय होता है, कहीं सोते में उसके मुख पर मेरा पैर न पड़ जाय। जब मैं कविता करता हूँ तो इसके कोमल बालों पर हाथ रखकर…

[स्वर से धीरे-धीरे]

रेशम-सी इस केश-राशि में
उलझा रहे मधुर जीवन;
मेरे मन में यह तन हो,
इस तन में ही हो मेरा मन।

शकुंतला—ये तो उसी 'चंपक'-शीर्षक कविता की पंक्तियां हैं। फिर, महाशय, जब यह चंपक आपको इतना प्रिय है, तो इसे बेचने की कल्पना तो बहुत ही कठिन है ?

मालती—[उसी स्वर में] बहुत ही कठिन।

किशोर—हां, दीखता तो यही है, पर मुझे उसकी कल्पना ही नहीं, सत्यता का भी पालन करना है।

शकुंतला—कैसे ?

किशोर—मैं इसकी सेवा कर चुका। अब यह अच्छा है ! बसंत के समान उज्ज्वल और सुन्दर। अब मुझे इसे बिदा ही कर देना चाहिए।

शकुंतला—मैं नहीं समझ सकी।

[जिज्ञासा की दृष्टि]

किशोर—इतनी लम्बी कहानी कहने पर भी नहीं समझ सकीं? मेरा प्रेम दुःख और वेदना का बन्धु है। इस संसार में जहां दुःख और वेदना का अथाह सागर है, वहां ऐसे प्रेम की अधिक आवश्यकता है।

शकुंतला—[कौतूहल से] पर इससे और चंपक से क्या सम्बंध ?

किशोर—[लम्बी सांस लेकर] मैं केवल उसी को प्यार करना चाहता हूं, जिसका साथ देने में सबको आपत्ति है। उसी का साथी मैं बनना चाहता हूं, जिसकी सांस में हवा के स्थान में वेदना है, उसी के समीप रहकर मैं उसकी सेवा करना चाहता हूं। अब चंपक दुःखी नहीं है। उसकी करुणा-जनक परिस्थिति अब निकल गई। अब वह सुखी है।

शकुंतला—तो उसे बेच डालने से लाभ ?

किशोर—बहुत लाभ है। इसके साथ रहने के कारण मेरे जीवन का बहुत-सा समय अब उसकी सेवा में नहीं, उसके लाड़-प्यार में निकल जाता है। इससे मैं अन्य पीड़ितों की सहायता नहीं कर सकता। लाड़-प्यार तो समय-कुसमय सभी कर सकते हैं। उस दिन यह चंपक रास्ते में घायल पड़ा था। मैं इसके दुःख को नहीं देख सका। ले आया। एक महीने की सेवा से यह अच्छा हो गया। अब इसे छोड़ देना पड़ेगा। किसी दूसरे दुःखी की खोज करनी होगी। अब उसकी सेवा करूंगा।

शकुंतला—पर इससे आपको वेदना न होगी ?

किशोर—यही मेरा जीवन है। दूसरों की वेदना मैं अपने जीवन में रखकर उसे सुखी कर देना चाहता हूं। लोग कहते हैं मेरा जीवन एक करुण गान है, पर उस करुण गान का सबसे मीठा स्वर है।

यह चंपक। इसे भी अब दूर कर किसी दूसरे मीठे स्वर की खोज करूंगा। [गंभीर मुद्रा]

शकुंतला—[विस्मय से] आप वास्तव में कवि हैं और जीवन के महान् कवि हैं।

मालती—सचमुच।

किशोर—मैं अपनी प्रशंसा नहीं सुनना चाहता। आप मेरे चंपक को लेंगी ?

शकुंतला—आपकी कहानी से तो चंपक का मूल्य बहुत बढ़ गया। अब तो मैं अवश्य लूँगी।

किशोर—[गंभीर स्वर में जैसे पिछली बातों को नेत्रों से देख रहा हो।] कई ख़रीदने वाले आए, पर मैंने उन्हें न दिया, यद्यपि वे इसकी बड़ी ऊँची क़ीमत लगा रहे थे। मैंने सोचा, किसी ऐसे व्यक्ति को दूँ, जो चंपक का मूल्य समझे। आपके हृदय ने मेरे चंपक को पहचाना है। मुझे लाभ ही क्या होता, यदि ऊँची क़ीमत देकर वे लोग मेरे चंपक को दुःख से रखते या उस प्रकार न रखते, जिस प्रकार मैं चाहता हूं। चंपक की संभवतः फिर पहले-जैसी दशा हो हो जाती। मुझे क़ीमत प्यारी नहीं है मुझे अपनी चीज़ प्यारी है, वह भी बेची जाने वाली। आप मेरा आशय समझ रही हैं ?

शकुंतला—[उत्साह से] हाँ, मैं आपके हृयय को समझ रही हूँ। दीजिए यह चंपक मुझे। [मालती की ओर देखकर] मालती उठा लो यह प्यारा चंपक। इसे हम लोग बहुत प्यार से रक्खेंगे। मैं कवि के समान तो शायद प्यार न कर सकूँ, पर...।

[मालती चंपक को उठाती है।]

किशोर—नहीं, आप मेरे ही समान मुझ से अधिक प्यार कर सकेंगी। आपके पास स्त्री-हृदय है, जिसमें करुणा अमृत बनकर बहा करती है।

शकुंतला—[लज्जित होकर] धन्यवाद ? (चंपक को छूते हुए,

बात बदलने के विचार से) कितना सुन्दर है यह। माथे में सफ़ेद चिह्न है। जैसे प्रकृति ने इसे तिलक लगा दिया है। कोमल शरीर जैसे कपास की राशि हो!

किशोर—इसके पैर भी कैसे सफ़ेद हैं, जैसे सुधा इसके चरणों को चूम रही है। बाल इतने बढ़ आये हैं, मानो वे आप से बातें करने के लिए समीप आना चाहते हैं।

शकुंतला—अच्छा, मैं इसका कितना मूल्य दे दूँ ?

किशोर—जितना आप चाहें। मुझे मूल्य की आवश्यकता नहीं। मैं अपने अमूल्य चंपक को उपहार-स्वरूप आपको दे देता, पर मुझे दुखियों की सेवा करने के लिये पैसों की आवश्यकता पड़ती है। यह रूखा संसार हृदय की कोमल भावनाओं को प्रमाणित करने के लिये रुपयों का माप-दंड चाहता है।

शकुंतला—तब मैं अधिक से अधिक दूँ।

—जैसी इच्छा। आपका शुभ नाम ?

शकुंतला—मेरा नाम शकुन्तला। पर नाम से क्या ?

किशोर—क्यों नहीं ? मेरे चंपक की रक्षा करने वाली का नाम धर्म से भी अधिक पवित्र है। वह नाम ईश्वर के नाम के साथ लिया जा सकता है।

शकुंतला—[मुस्कराकर] आप तो उस पर कविता भी लिख सकते हैं। लीजिए ये सौ रुपये। [मालती से] मालती, ले चलो चंपक को। मैं जाऊँ ? नमस्ते।

मालती—चलिए।

[दोनों उठ खड़ी होती हैं।]

किशोर—[उठकर] आप जा रही हैं ? ठहरिए। एक मिनट। मैं अपने चंपक को देख लूँ। उसे एक बार चूम लूँ।

शकुंतला—[प्रसन्नता से] एक नहीं अनेक बार। [मालती से] मालती, कविवर को चंपक दे दो।

[किशोर मालती से लेकर चंपक को हृदय से लगाकर चूमता हैं। करुणार्द्र नयनों से मालती को देते हुए चंपक को फिर एक बार हृदय से लगाकर आँखें बन्द कर लेता है। चंपक को सामने करते हुए कहता है, जैसे मूर्च्छा-सी आ रही है।]

चंपक, मेरे घायल होने वाले चंपक ! तुम जा रहे हो ? तुम्हारा पैर अच्छा हो गया। जाओ। सुख से रहो। मेरे चम्पक, तुम्हें फिर एक बार वही गीत सुना दूं।

[स्वर से]

रेशम-सी इस केश-राशि में

उलझा रहे मधुर जीवन।

पर···पर अब तो तुम जा रहे हो। मेरा जीवन तुमसे कैसे उलझा रहेगा ? मेरा क्या ? जाओ। मेरे चम्पक !

[चूमता है।]

[शकुन्तला और मालती किशोर को अनिमेष देख रही हैं। किशोर चंपक को मालती के हाथों में रखता है।]

शकुंतला—[करुणार्द्र होकर] कविवर, आपका यह प्रेम देख कर मुझे वेदना हो रही है।

किशोर—[दृढ़ता से] नहीं, यह तो चंपक की प्रशंसा है। अच्छा, अब आप जा सकती हैं। धन्यवाद ! नमस्ते।

[शकुन्तला और मालती चंपक को लेकर धीरे-धीरे जाती हैं जब तक चंपक दिखाई पड़ता है, किशोर अनिमेष नेत्रों से उसे देखता रहता है। दृष्टि से ओझल होने पर एक गहरी सांस लेता है। मुद्रा में वेदना।]

किशोर—[टहलता हुआ, धीरे-धीरे]

मेरे···मन···में यह तन हो,

इस तन में ही हो मेरा मन।

[विरक्ति से]

उहं······अब तो वह गया। सदैव के लिये। [सोचकर] चंपक चंपक! तुम घायल ही रहते, तो अच्छा था। मेरे अच्छे होनेवाले चंपक! तुम अच्छे ही क्यों हुए? अच्छे क्यों हुए?

[ललिता का प्रवेश। वह सात वर्ष की बालिका है। बड़ी चंचल और मचलने वाली। तितली की तरह उड़ती आती है। उसके माथे पर बाल फैल रहे हैं पर सुन्दरता के साथ। उसके हाथ में रोटी है। आते ही वह बड़ी उत्सुकता के साथ बोलती है।]

भैया! चंपक कहां है? मैं यह रोटी उसे खिलाने के लिये लाई हूं।

[कमरे में चारों तरफ देखती है, जैसे कोई चीज़ खो गई है। उत्सुकता से]

चंपक कहाँ है?

किशोर—चंपक? चंपक एक दूसरी जगह चला गया है। ललिता, मेरी बहन!

[ललिता के बिखरे बालों को संवारता है]

ललिता—कहाँ?

किशोर—जहाँ उसे बहुत आराम मिलेगा। अच्छी-अच्छी मिठाइयाँ खाने को मिलेंगी। तुम तो यहाँ उसे रोटियाँ ही खिलाती थी, वे भी सूखी।

ललिता—[निराशा से] तो अब वह यहाँ न आवेगा?

किशोर—नहीं।

ललिता—क्यों?

[साश्रु-नयन]

किशोर—तुम उसे अच्छा खाना नहीं खिलाती थीं।

ललिता—अच्छा, तो उसे ला दीजिए। अब से मैं उसे अच्छा खाना खिलाऊंगी मिठाइयां खिलाऊंगी।

किशोर—सचमुच?

ललिता—हाँ, सचमुच। जाइए। मेरे चंपक को जल्द लाइए।

किशोर—[दीवार की ओर शून्य दृष्टि से देखता हुआ] वह मुझसे नाराज़ हो गया है। अब न आवेगा।

ललिता—मुझ से तो नाराज़ नहीं हुआ। मैं उसे अपने पास रक्खूंगी। आप से कोई मतलब नहीं।

किशोर—नाराज़ी से उसने कहीं मुझे काट लिया, तो ?

ललिता—नहीं काटेगा। मैं उससे कह दूंगी। आप जाइए। उसे जल्दी लाइए।

किशोर—[अस्थिर होकर, स्वगत] क्या करूं ? [प्रकट्] सुनो, चंपक को तुम्हारी बहन ले गई हैं मैं उनसे कह दूंगा कि वह ललिता के पास चंपक को कभी-कभी ले आया करें।

ललिता—कौन बहन ?

किशोर—तुम्हारी एक बहन हैं, उनका नाम है शकुन्तलादेवी।

ललिता—मैं किसी को नहीं पहचानती। आप मेरे चंपक को ला दीजिये।

[रोने लगती है]

किशोर—[आश्वासन देते हुए] अच्छा, अभी जाता हूँ। अगर चंपक नहीं मिलेगा, तो उससे अच्छा चंपक लाऊँगा। तुम उसके लिये अच्छी-अच्छी रोटी तैयार करो।

ललिता—नहीं, मैं मिठाई खिलाऊंगी।

किशोर—(मुस्कराकर) अच्छा, मिठाई ही सही। जाओ। मिठाई तैयार करो। मैं भी चंपक की खोज में जाता हूँ।

[ललिता जाती है।]

[किशोर बाहर जाने के लिए कपड़े पहनता है। इतने में बाहर से एक स्वर]

भूखे को एक रो ओ टी..............।

किशोर—कौन है ?

[एक पचास वर्ष के वृद्ध का प्रवेश । उसके कपड़े फटे हुए हैं । सारा शरीर रूखा और कुरूप । उसका दाहना पैर टूट गया है, जिससे उसे लंगड़ाकर चलना पड़ता है । उसके हाथ में एक लाठी है । उसके सहारे वह अपने शरीर का बोझा रक्खे हुए है । वह कराहता हुआ-सा बोलता है—]

भूखे को एक रोटी दे दो ।

किशोर—(समवेदना के स्वर में) तुम भूखे हो ?

वृद्ध—[दुःख से] मैंने चार दिन से अन्न नहीं देखा । माँगते-मांगते हैरान हूँ । लोग हंसी उड़ाकर मेरे सामने ही लंगड़े बनने की नकल करते हैं । चिढ़ाते हैं । गाली देते हैं ।

किशोर—गाली देते हैं ? बड़े खराब हैं । तुम मेरे पास क्यों नहीं चले आए ?

[सहारा देता है]

वृद्ध—[उल्लास से] ओह, मालूम कहाँ था कि तुम्हारे समान देवता भी इस जगह रहते हैं ।

किशोर—[नम्रता से] देवता नहीं, सेवक कहो ।

[समीप की कुर्सी पर बिठलाता है ।]

वृद्ध—[बैठते हुए] सेवक कहूँ, तो देवता किसे कहूँ ? आज तुम्हारे घर आकर समझ रहा हूँ कि यह संसार बिलकुल बुरा नहीं है ।

किशोर—अच्छा पहले खाना खाइए । फिर अपनी कहानी कहिए । मैं अभी आपके लिये खाना मंगवाता हूँ । [जोर से] ललिता, खाना लाना ।

ललिता—[नेपथ्य से] क्या चंपक आ गया ? मेरा चंपक ! [प्रवेश] मेरा चंपक ! [चंपक को न देखकर निराशा की दृष्टि से] चंपक कहाँ है ?

किशोर—चंपक नहीं है । यह भूखे महाशय आए हुए हैं इनके लिये थोड़ा खाना लाओ ।

ललिता—[चिढ़े हुए स्वर में] मैं चंपक के सिवा किसी को खाना न दूंगी ।

किशोर—[जोर देकर, दृढ़ता से] लाओ खाना । मैं कह रहा हूं, खाना लाओ । और जल्दी ।

[ललिता निराश और दुःखी होकर जाती है ।]

किशोर—[वृद्ध से] क्षमा कीजिए । खाना अभी आता है ।

वृद्ध—[सोचते हुए] यह चंपक कौन ?

किशोर—चंपक ? एक छोटा-सा प्यारा कुत्ता था । अब वह मेरे पास नहीं है । छोटी बहन उसके लिये बहुत दुःखी है ।

वृद्ध—वह कहाँ गया ?

किशोर—उसे मैंने बेच दिया ।

वृद्ध—क्यों ?

[जिज्ञासा की दृष्टि]

किशोर—जिससे वह अधिक सुखी रहे, और मैं दुखियों की सेवा कर सकूं ।

वृद्ध—क्या उसके रहने से दुखियों की सेवा नहीं हो सकती ?

किशोर—नहीं, जब तक वह घायल था.............. ।

वृद्ध—[चौंककर] घायल..........?

किशोर—हाँ, घायल । उसका पैर टूट गया था । खून बह रहा था । मैंने उसकी थोड़ी सेवा की । वह एक महीने में अच्छा हो गया । उससे मेरा बहुत मोह हो गया था । उसके कारण मेरे सेवा-कार्य में बहुत बाधा पड़ती थी । जब वह अच्छा हो गया, तो मैंने उसे अपने से अधिक संभ्रांत युवती के हाथ बेच दिया, जिससे वह अधिक सुख के साथ रह सके, और मैं अपना कर्त्तव्य कर सकूं ।

वृद्ध—(स्वप्न-सा देखता हुआ) घायल हो गया था । उसके पैर में चोट थी ?

किशोर—हाँ आगे का पैर तो उठा ही नहीं सकता था।

वृद्ध—[गंभीरता से, धीरे-धीरे] आगे···का पैर···। उसके माथे में सफेद चिह्न था ?

किशोर—हाँ, जैसे प्रकृति ने उसे सफेद तिलक लगा दिया है।

वृद्ध—[करुणा से] तब मैंने ही उसे मारा था, मैंने ही उसे चोट पहुँचाई थी।

किशोर—आपने ? [साश्चर्य)

वृद्ध—(वेदना से) हाँ, मैंने ही।

किशोर—यह कैसे ?

वृद्ध—वह मेरे पड़ोसी का पालतू कुत्ता था। बहुत प्यारा। उन्होंने उसे बड़े प्रेम से पाल-पोसकर बड़ा किया था। वह इतना सीधा और चतुर था कि हमेशा घर के बच्चों का खिलौना बना रहता था। उसके खाने के लिये बाज़ार से मिठाइयाँ मंगवाई जाती थीं। दिन-भर में उसे न जाने कितनी चीजें खिला दी जाती थीं। एक दिन मैं बहुत भूखा था। मुझे दो रोज़ से खाना न मिला था। उस दिन मैंने उनके यहां जाकर खाना मांगा। मुझे तो खाना न दिया गया, मेरे ही सामने कुत्ते को पूरियाँ खिलाई गईं। मैं कुत्ते का इतना लाड़-प्यार न देख सका। यह जलन मेरे हृदय में इतनी बढ़ी कि एक दिन मैंने उसे चुराकर खूब पीटा, और जब उसकी टाँग टूट गई, तो अंधेरे में दूर ले जाकर रास्ते में फेंक दिया।

किशोर—ओह ! बड़े निर्दयी हैं आप।

वृद्ध—[अपने ही स्वर में] लोगों ने समझा, वह मर गया या किसी के द्वारा चुरा लिया गया। मेरे पड़ौसी के बच्चे उस कुत्ते के लिये बहुत दिनों तक रोते रहे। मेरे सामने ही वे धूल में लोटते और गलियों-गलियों अपने कुत्ते को खोजते फिरते। एक बच्चे के मन पर तो कुत्ते के खो जाने का इतना सदमा कि वह एक महीने तक बीमार रहा। वह कुत्ता घायल अवस्था में कितने दिनों तक पड़ा

रहा, यह मैं नहीं जानता।

किशोर—ओफ़ इतनी निर्दयता! [आंखें बन्द कर लेता है।]

वृद्ध—उस समय न जाने मेरे हृदय में इतनी जलन कैसे हो गई थी! कुत्ते इतने लाड़-प्यार से पाले जायं, और भूखे मनुष्यों की ओर समाज ध्यान भी न दे! कुत्ते मखमली गद्दों पर सुलाए जायं और हम ग़रीबों को सोने के लिये टाट भी नसीब न हो! कुत्ते दूध-मलाई खायं, और हम लोग सूखे टुकड़ों के लिये तरसें! उनका अल्फ्रेड-पार्क में प्रदर्शन हो, और हम लोग......!

किशोर—पर तुम्हीं सोचो, इसमें उन बेचारे कुत्तों का क्या दोष ?

वृद्ध—[रुककर] हां, यह बात सोचने पर मुझे पीछे मालूम हुई। उसी अपराध की सज़ा तो शायद मुझे नहीं मिली? एक हाथ भरकर मैंने अपनी लकड़ी जैसे ही कुत्ते पर मारी, वैसे ही, उसके थोड़े से हट जाने के कारण, वह मेरे पैर में आ लगी, और कुत्ते के साथ मैं भी लंगड़ा हो गया। पहले तो भूख का ही दर्द था अब पैर का भी हो गया। तब से लंगड़ा हो गया हूँ।

[वेदना की आह]

किशोर—आह! आपने मेरे चंपक को इतना दण्ड दिया! निरपराध चंपक को।

वृद्ध—हाँ, रोटी के सिवा जो चाहे दंड दो, मैं सब सह लूंगा।

किशोर—महाशय, क्या ईश्वर की दृष्टि में यह दोष क्षम्य हो सकता है? ओह, एक निरपराध को इतना दंड! यदि तुम भूखे और लंगड़े न होते, तो तुम्हें इस पाप के लिये बहुत कुछ करना पड़ता। जान-बूझकर पाप करने वाले! ईश्वर से क्षमा मांगो।

वृद्ध—[विकृत स्वर से] मैं बहुत दिनों से ईश्वर से क्षमा मांग रहा हूँ। पश्चात्ताप की अग्नि में जल रहा हूं। ईश्वर से मैंने क्षमा मांगी, तुमसे रोटी माँगता हूँ। मैं भूखा हूँ, मुझे रोटी दो।

किशोर—अभी रोटी आ रही है। बिलकुल ताज़ी। साथ-साथ ललिता के हाथ की बनाई हुई मिठाई भी। अच्छा, तुम्हारे पैर की चोट कैसी है ?

वृद्ध—बहुत दर्द है !

किशोर—तो मेरे यहां ठहरो। मुझे अपनी सेवा करने का अवसर दो। जब तुम्हारा पैर अच्छा हो जाय, तब तुम चले जाना। तब तक यहीं रहकर मुझे अपने सत्सङ्ग का अवसर दो। पहले निरपराध की सेवा करता था, अब अपराधी की सेवा करूंगा।

वृद्ध—[आंखें फाड़कर] ऐं धीरे-धीरे किशोर के शब्दों को दुहराता हुआ [पहले...निरपराध...की...सेवा...करता....था, अब...अपराधी....की....सेवा....करूंगा। ओह, तुम देवता हो ! बतलाओ, तुमने अपना चंपक किसे बेच दिया है।

किशोर—क्यों ? एक संभ्रांत युवती शकुंतलादेवी को।

वृद्ध—[अस्थिर होकर] तो...तो...मैं वहीं जाऊंगा, शकुंतला-देवी के यहां भीख मांगकर, नौकरी कर चंपक की सेवा करूंगा। तभी मुझे शांति मिलेगी। चंपक ! चंपक ! अच्छा, मैं अब जाता हूं।

किशोर—जाना। ज़रूर जाना। पर पहले अपना पैर तो अच्छा हो जाने दो।

वृद्ध—[दृढ़ता से] नहीं। अब मैं अपना पैर अच्छा न होने दूंगा। यह मेरे पश्चात्ताप की स्मृति हो कर रहेगा। उसके दर्द से कराहूंगा, और अपने पश्चात्ताप की अग्नि में जलूंगा। एक दिन इसी तरह मर जाऊंगा ! अब मैं अच्छा होना नहीं चाहता। मैंने बड़ा भारी पाप किया है। पहले चंपक को जितना मारा था, उससे अधिक उसकी सेवा जब कर लूंगा, तभी मुझे थोड़ी शान्ति मिलेगी। तुमने एक पल-भर में मुझमें इतना बड़ा परिवर्तन ला दिया। सेवा का इतना बड़ा आदर्श बतला दिया। [किशोर के शब्दों को पुनः दुहराते हुए, धीरे-धीरे] पहले...निरपराध....की...सेवा...करता

था,...अब...अपराधी...की...सेवा...करूंगा । देवता ! स्वर्ग के देवता ! तुम पृथ्वी पर कैसे ? [चौंककर] शकुंतलादेवी का मकान कहा है ?

किशोर—विक्टोरिया-पार्क के समीप ।

वृद्ध—तो मैं वहीं जाऊंगा ।

[उठकर चलना चाहता है ।]

किशोर—[उत्सुकता से] खाना तो खाते जाइए ।

वृद्ध—अब मुझे भूख नहीं है ।

किशोर—एक मिनट ठहरिए ।

वृद्ध—नहीं, अब मैं जाऊंगा ।

किशोर—[ज़ोर से] ललिता ।

ललिता—[प्रवेश कर] क्या है भैया ? चंपक नहीं आया ? खाना तैयार है । अच्छी मिठाई भी तैयार है । मैंने अपने हाथ से छोटे-छोटे लड्डू चंपक के लिये तैयार किये हैं । चंपक कहाँ है ?

[नेत्रों से उत्सुकता और करुणा]

किशोर—[ललिता को चूमकर] नहीं, मेरी ललिता ! चंपक नहीं आया । वह भी गया, और उसको मारने वाला भी ।

ललिता—[आँखों में आँसू भरकर] कैसा मारने वाला ?

किशोर—वही भूखा भिखारी । वह भी गया । कल मैं शकुंतला-देवी से तुम्हारे लिए थोड़ी देर को चंपक माँग लाऊंगा । तुम उसेअच्छी-अच्छी मिठाई खिलाकर लौटा देना । तुम्हारे लिये दूसरा चंपकले आऊंगा ।

ललिता—[सरलता से] खाना तो तैयार है । मिठाई रक्खी हुई है । किसे खिलाऊं ? आप ही खा लीजिए ।

किशोर—[ललिता के बाल सुधारते हुए] अब किसी दूसरे भूखे को आने दो तब मैं भोजन करूंगा ।

[धीरे-धीरे प्रस्थान । ललिता जैसे कुछ नहीं समझ सकती । वह किशोर को उदास देखकर अपना रोना भूल गई है । वह किशोर को शून्य नेत्रों से देखती हुई उसके पीछे पीछे जाती है ।]

जीवनी

श्री सेठ गोविन्द दास के एकांकी नाटकों पर गांधी-युग की राजनैतिक चैतनता की छाप है। हिन्दू-मुस्लिम एकता, दाम्पत्य-जीवन की विषमताएं तथा न्याय अन्याय चर्चा का चित्रण होता है। यह अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में यथार्थादर्शवाद का अनुसरण करते हैं। इन्हों ने नाट्य-कला की प्राचीन पद्धतियों के विपरीत हिन्दी एकांकी नाटकों में प्रकार वैचित्र्य की सृष्टि की है।

मोनोड्रामा—एकपात्री नाटकों का सृजन हिन्दी में इनकी महत्त्व पूर्ण देन है।

× × ×

सेठ जी का 'मैत्री' राजनैतिक जीवन का एक चित्र है। जिसमें दो मित्रों की अगाढ़ मित्रता चेयर मैनी 'निर्वाचन ज्वर' के कारण मनोमालिन्य में बदलती है और दोनों मित्रों के आत्म-त्याग से मैत्री की सुख सरिता पूर्ववत् बहने लगती है।

'मैत्री' आधुनिक युग की भावनाओं का प्रतीक है। प्रजातंत्र के इस युग में धारा-सभाओं के निर्वाचन में अमित्र मित्र, मित्र अमित्र बन जाता है। कुछ लोगों के मस्तिष्क में 'निर्वाचन ज्वर' का प्रकोप इतना बढ जाता है कि वे पद-लोलुपता भला बुरा-शुभ-अशुभ, का ज्ञान ही खो बैठते हैं। लेखक ने 'मैत्री' में इस 'निर्वाचन ज्वर' का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण करके बड़ी कुशलता से उसका समाधान किया है।

मैत्री

उपक्रम

स्थान—निर्मलचन्द्र के मकान का बैठिकख़ाना ।

समय—प्रातःकाल ।

[बैठकख़ाने के तीन तरफ़ की दीवालें दीखती हैं, जो सफेद कलई से पुती हैं । पीछे की दीवाल में तीन खिड़कियाँ हैं जो खुली हुई हैं इनसे बाहर के छोटे से बगीचे का कुछ हिस्सा दिखाई देता है, जो डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणों से रंग रहा है दोनों ओर की दीवालों के सिरे पर एक एक दरवाज़ा है । बाँई तरफ़ की दीवाल का दरवाज़ा एक दूसरे कमरे में खुला है, जिससे उसका कुछ भाग दिखाइ देता है । इस कमरे में एक पलंग तथा कुछ कुर्सियाँ कपड़े टांगने की खूँटियों का स्टैन्ड आदि रखे हैं, जिससे यह कमरा सोने का कमरा जान पड़ता है । दाहिनी तरफ़ की दीवाल का दरवाज़ा बाहर के बगीचे में खुला है जिससे बग़ीचे का कुछ हिस्सा दीख पड़ता है । बैठकख़ाने की जमीन पर दरी बिछी हुई है । उसके ऊपर पीछे की दीवाल से सटा हुआ एक तख़्त रखा हुआ है, जिस पर गद्दा बिछा है और उस पर तकिये लगे हैं । बीच में एक गोल टेबिल है, जो टेबिल क्लाथ से ढकी है । इस टेबिल के चारों ओर बेंत से बुनी हुई कुछ कुर्सियाँ रखी हैं । बैठकख़ाने की सीलिंग से बिजली की दो बत्तियां झूल रही हैं । मकान और मकान की सजावट देखने से जान पड़ता है कि मकान किसी मध्यम श्रेणी के व्यक्ति का है । तख़्त पर निर्मलचन्द्र और विनयमोहन बैठे हुए हैं । दोनों की अवस्था करीब २४, २५ वर्ष की है । रंग दोनों का गेहुआँ है । दोनों साधारण ऊंचाई और शरीर के व्यक्ति हैं । दोनों के बाल अंग्रेजी

[दोनों कुछ देर को चुप हो जाते हैं ।]

निर्मलचन्द्र—एक बात जानते हो, विनय ?

विनयमोहन—क्या, निर्मल ?

निर्मलचन्द्र—चीन के महापुरुष कन्फ्यूशियस का एक उपदेश आज तक मेरे सामने आ रहा है और भविष्य में भी रहेगा ।

विनयमोहन—कौन सा ?

निर्मलचन्द्र—"दिन में तीन बार अपने आपको जाँच कर देखो कि तुमने अपने सच्चे मित्र के लिये सचाई और ईमानदारी से सब कुछ किया है या नहीं ।'

विनयमोहन—और जानते हो मेरे सामने क्या रहा है और रहेगा ?

निर्मलचंद्र—क्या ?

विनयमोहन—किसी देश की एक प्रोवर्ब ।

निर्मलचंद्र—कौनसी ?

विनयमोहन—'जिस प्रकार अग्नि को प्रज्वलित रखने के लिये ईंधन की ज़रूरत रहती है उसी तरह मैत्री रूपी अग्नि को जीवित रखने के लिये मित्र के प्रति त्याग रूपी आहुति की ।'

निर्मलचंद्र—(विनयमोहन की तरफ़ एक टक देखते हुए गद् गद् स्वर से) विनय !

विनयमोहन—(उसी प्रकार एक टक निर्मलचन्द्र की ओर देखते हुए) निर्मल !

यवनिका-पतन

मुख्य दृश्य

स्थान—निर्मलचन्द्र के मकान का बैठकखाना ।

समय—सन्ध्या ।

[दृश्य वैसा ही है जैसा उपक्रम में था । कमरे का सब सामान करीब करीब वैसा ही है । दीवालों पर कांग्रेस नेताओं के चित्र लग

गये हैं निर्मलचन्द्र और विनयमोहन तख्त पर बैठे हुए हैं। अब दोनों खादी के कुरते और धोती पहने हुए हैं। दोनों की अवस्था कुछ बढ़ गई है, जो उनकी बढ़ी हुई मूंछों से मालूम होती है। दोनों के मुख पर अशान्ति दृष्टिगोचर होती है। निर्मलचन्द्र खिड़की से बाहर बगीचे की तरफ देख रहा है और विनयमोहन दाहनी ओर की दीवाल के दरवाजे से बाहर की तरफ। कुछ देर निस्तब्धता रहती है। कुछ देर बाद विनयमोहन खड़ा होकर दाहनी तरफ के दरवाजे की ओर जाता है। निर्मलचन्द्र विनयमोहन की तरफ देखता है। विनयमोहन कुछ देर उस दरवाजे पर खड़े-खड़े बाहर की तरफ देखता है फिर लौटकर अपने स्थान पर बैठ जाता है। निर्मलचन्द्र उसके लौटते ही उसकी तरफ से दृष्टि हटाकर फिर खिड़की से बाहर की ओर देखने लगता है।]

निर्मलचंद्र—[बाहर की तरफ देखते हुए] क्यों विनय, प्रतीक्षा का टाइम निकालने में इतनी मुश्किल पड़ रही है?

विनयमोहन—[दाहनी तरफ के दरवाजे की तरफ देखते हुए] नहीं ऐसी तो कोई बात नहीं है।

[दोनों फिर चुप हो जाते हैं। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

विनयमोहन—[निर्मलचन्द्र की ओर दृष्टि घुमाकर] हम लोगों की बातचीत तो कभी ख़त्म ही न होती थी, आज हो गई क्या?

निर्मलचंद्र—[विनयमोहन की तरफ देखकर] हमारी बात कभी ख़त्म हो सकती है?

विनयमोहन—फिर चुप क्यों हो?

निर्मलचंद्र—[फिर खिड़की से बगीचे की तरफ देखते हुए] और तुम तो बहुत बोल रहे हो?

[विनयमोहन कोई उत्तर न देकर फिर दाहनी तरफ की दीवाल के दरवाजे से बाहर की ओर देखने लगता है। कुछ देर फिर निस्तब्धता रहती है।]

निर्मलचंद्र—विनय, एक बात पूछूं ?

विनयमोहन—[निर्मलचन्द्र की तरफ देखते हुए] यह पूछने की ज़रूरत है ?

निर्मलचंद्र—[विनयमोहन की ओर दृष्टि घुमा] तुम इतने अधीर क्यों हो ?

विनयमोहन—मैं अधीर हूं ?

निर्मलचंद्र—क्या मैं तुम्हें इतने वर्षों के बाद इतना भी नहीं पहचान पाया हूँ ?

विनयमोहन—और तुम वैसे ही हो, जैसे हमेशा रहते थे ?

निर्मलचंद्र—नहीं, मैं भी वैसा नहीं हूँ, पर तुमसा अधीर भी नहीं।

विनयमोहन—तो हम दोनों ही जैसे थे वैसे नहीं हैं, यह तो निश्चित हो गया।

निर्मलचंद्र—सच बात को मंजूर करना ही चाहिये।

विनयमोहन—और उसका सबब ?

निर्मलचंद्र—म्युनिसपैलटी की प्रेसीडेन्टी का चुनाव, क्यों ?

[दोनों फिर चुप हो जाते हैं। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है।]

निर्मलचंद्र—मानते हो न ?

विनयमोहन—तुमने कहा न, सच बात को मंजूर करना ही चाहिये।

निर्मलचंद्र—धन्यवाद।

विनयमोहन—मुझे धन्यवाद !

निर्मलचंद्र—[कुछ मुस्कराकर] अच्छा, भाई, वापस लेता हूँ !

विनयमोहन—[मुस्कराकर] धन्यवाद।

निर्मलचंद्र—[मुस्कराकर] बदला लेते हो ! [कुछ रुक कर] खैर। [फिर कुछ रुककर] क्यों, विनय, तुम यह जानते हो कि या तो मैं प्रेसीडेन्ट चुना जाऊँगा या तुम, फिर भी तुम इतने अधीर क्यों हो ?

विनयमोहन—और तुम भी यह बात जानते हो, फिर तुम भी वैसे ही क्यों नहीं हो जैसे हमेशा रहते थे ?

निर्मलचंद्र—मैं ?......मैं...[कुछ रुककर विचार करते हुए], मैं शायद इसलिए वैसा नहीं हूँ कि अगर मैं चुना गया और तुम न चुने गये तो...तो...तुम्हें...तुम्हें किसी तरह की...किसी तरह की ठेस ..ठेस तो नहीं पहुंचेगी !

विनयमोहन—तुम्हारे चुने जाने पर मुझे ठेस पहुँचेगी ! निर्मल, तुम मेरे साथ अन्याय, घोर अन्याय, कर रहे हो।

निमलचंद्र—हो सकता है। अच्छा अब तुम बताओ कि तुम इतने अधीर क्यों हो ?

विनयमोहन—मैं ? [कुछ विचार करते हुए] मैं भी शायद इसालिए इतना अधीर हूं कि कहीं मैं चुन लिया गया और तुम न चुने गये तो तुम्हारे हृदय पर तो कोई चोट न लगेगी ?

निर्मलचंद्र—तो तुम भी मेरे साथ उसी तरह का अन्याय कर रहे थे जैसा मैं तुम्हारे साथ।

विनयमोहन—तो हम दोनों ने एक दूसरे के साथ अन्याय किया।

निर्मलचंद्र-घोर अन्याय !

विनयमोहन—इस पाप का प्रायश्चित्त ?

निर्मलचन्द्र—प्रायश्चित्त ? [कुछ विचार कर] यही प्रायश्चित्त है कि जो चुना जाय वह यह सोचे कि जो चुना गया है, वह नहीं, पर यथार्थ में जो नहीं चुना गया है, वह चुना गया है।

विनयमोहन—[गद् गद् स्वर से] निर्मल तुमने सच्चा प्रा-यश्चित्त बताया।

निर्मलचंद्र—विनय, तुम में और मुझ में अभी भी कोई अन्तर रह गया है ?

विनयमोहन—कदापि नहीं।

निर्मलचन्द्र—हम दोनों एक प्राण दो देह हैं।

विनयमोहन—अवश्य।

निर्मलचन्द्र—ऐसी मैत्री कहीं देखी ?

विनयमोहन—देखी क्या सुनी भी नहीं।

निर्मलचंद्र—सुनी क्या कहीं के लिटरेचर तक में नहीं पढ़ी।

विनयमोहन—'आवर लाइफ़ इज़ ए रेग्युलर फीस्ट।'

निर्मलचंद्र—आफ़ कोर्स, 'आवर लाइफ़ इज़ ए रेग्युलर फ़ास्ट।'

विनयमोहन—[एकटक निर्मलचन्द्र की ओर देखते हुए गद्-गद् स्वर से] निर्मल।

निर्मलचंद्र—[उसी तरह विनयमोहन की तरफ देखते हुए] विनय !

[शान्तिप्रकाश का दाहिनी तरफ के दरवाजे से प्रवेश। शान्तिप्रकाश करीब ४० वर्ष का सांवले रंग का कुछ ठिंगना और मोटा आदमी है। वह खादी की काले रंग की शेरवानी और खादी का सफेद चूड़ीदार पाजामा पहिने है। सिर पर गांधी टोपी और पैरों में फीतेदार शू हैं। उसे देख कर निर्मलचन्द्र और विनयमोहन दोनों खड़े हो जाते हैं। दोनों के मुखों पर फिर से अशांति दिखाई देने लगती है। दोनों, दोनों हाथों से शान्तिप्रकाश का अभिवादन करते हैं। प्रकाश भी हाथ जोड़ता है। और तीनों तखत पर बैठते हैं।]

निर्मलचंद्र—कहिए, पार्टी ने क्या निर्णय किया ?

शांतिप्रकाश—[मुस्कराते हुए] आप दोनों तो चले आये।

विनयमोहन—हां, हम लोगों का पर्सनल सवाल था। इसलिए हमने न ठहरना ही मुनासिब समझा।

शांतिप्रकाश—ठीक ही था। [कुछ रुककर] आपको पार्टी का निर्णय सुन कर शायद ताज्जुब होगा।

निर्मलचंद्र
विनयमोहन }—[एक साथ ही अधीरता से]—कैसा ?

शांतिप्रकाश—[मुस्कराकर] पार्टी ने निश्चय किया है कि चूंकि आप दोनों की सेवायें एक-सी हैं, इसलिए पार्टी आप दोनों को समान दृष्टि से देखती है, और दोनों में से प्रेसीडेन्ट कौन हो, इसका निर्णय आप दोनों पर ही छोड़ती है।

निर्मलचंद्र
विनयमोहन }—[एक साथ ही] यह कैसे हो सकता है ?

शांतिप्रकाश—क्यों आप दोनों आपस में तय कर लें और एक नाम पार्टी के पास भेज दें। मैं तो समझता हूं, बड़ी सरलता से निर्णय हो जायगा। आप दोनों को इसके निपटारा करने में क्या दिक़्क़त हो सकती है ?

[निर्मलचन्द्र और विनयमोहन कुछ न कहकर एक दूसरे की तरफ़ देखते हैं और शान्तिप्रकाश कभी निर्मलचन्द्र की ओर तथा कभी विनयमोहन की तरफ़। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

शांतिप्रकाश—कल प्रातःकाल नौ बजे फिर पार्टी की मीटिंग है; आपका निर्णय पार्टी के पास उस वक्त तक पहुंच जाना चाहिए।

निर्मलचंद्र—[कुछ विचारते हुए] लेकिन शान्तिप्रकाश जी… [चुप हो जाता है।]

विनयमोहन—[कुछ विचारते हुए] हां शान्तिप्रकाश जी…… [चुप हो जाता है।]

शांतिप्रकाश—[खड़े होते हुए] मुझे इस वक्त इजाज़त दीजिए, जिससे आप दोनों को एकान्त में इस निर्णय करने के लिए समय मिल सके।

[निर्मलचन्द्र और विनयमोहन खड़े हो जाते हैं। शान्तिप्रकाश दोनों का अभिवादन कर जाने लगता है। दोनों बिना एक शब्द भी

कहे उसे दरवाजे तक पहुँचाते और अभिवादन के साथ उसे रुखसत कर धीरे-धीरे वापस आ तख़्त पर बैठते हैं। दोनों में से एक, एक खिड़की से और दूसरा दूसरी खिड़की से बग़ीचे की तरफ देखने लगता है। कोई कुछ नहीं बोलता, परन्तु दोनों के मुखों से जान पड़ता है कि उनके हृदयों में तूफ़ान का समुद्र लहरा रहा है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।

निर्मलचंद्र—विनय !

[विनयमोहन चौंक सा पड़ता है मानो उसे किसी अपरिचित व्यक्ति ने सोते से जगाया हो।]

विनयमोहन—[भर्राये हुए स्वर में] हां, निर्मल।

निर्मलचंद्र—अरे तुम तो चौंक पड़े ?

विनयमोहन—[उसी प्रकार के स्वर में] नहीं तो।

[दोनों फिर चुप हो जाते हैं कुछ देर फिर निस्तब्धता रहती है।]

विनयमोहन—निर्मल !

[इस बार निर्मलचंद्र चौंक पड़ता है, मानो उसे किसी ने डरा दिया हो।]

निर्मलचंद्र—[भर्राये हुए स्वर में] हाँ, विनय।

विनयमोहन—इस बार तुम चौंक पड़े, निर्मल।

निर्मलचंद्र—[उसी स्वर में] ऐसा ?

विनयमोहन—अवश्य।

[दोनों फिर चुप हो जाते हैं कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

निर्मलचंद्र—[विनयमोहन की तरफ देख कर] देखो।

विनयमोहन—[थोड़ा सा चौंकते हुए, निर्मलचंद्र की ओर देख] कहो।

निमलचंद्र—[अत्यंत दबे हुए स्वर मे] प्रेसीडेंट होना तुम मंजूर करो।

विनयमोहन—मैं ? क्यों ? तुम क्यों नहीं ?

निर्मलचंद्र—और मैं क्यों; तुम क्यों नहीं ?

[दोनों फिर चुप रह जाते हैं और खिड़कियों से बाहर की तरफ देखने लगते हैं। फिर कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

विनयमोहन—[निर्मलचन्द्र की ओर देखकर] एक बात पूछूं, निर्मल ?

निर्मलचंद्र—यह पूछने की आवश्यकता है ?

विनयमोहन—यह पद तुमने मुझे इतने दबे हुए स्वर से क्यों आफ़र किया ?

निर्मलचंद्र—[विनयमोहन की तरफ दृष्टि घुमाकर अपने स्वाभाविक स्वर में बोलने का प्रयत्न करते हुए] दबे हुए स्वर से ?

विनयमोहन—क्या मैं इतने सालों के बाद तुम्हारा स्वर भी नहीं पहचानता ?

[निर्मलचन्द्र कोई उत्तर नहीं देता। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

विनयमोहन—निर्मल, तुम्हें मेरा अधैर्य खला था। जब मैंने तुमसे कहा कि तुम भी वैसे नहीं हो जैसे थे, और उसका कारण पूछा तब तुमने कहा कि तुम शायद इसीलिए वैसे नहीं हो कि अगर तुम चुन लिये गये और मैं न चुना गया तो मेरे मन पर ठेस न पहुँचे। क्या मैं पूछूं कि मुझे प्रेसीडेन्टी आफ़र करते हुए तुम्हें इतना दुःख क्यों हो रहा है ?

निर्मलचंद्र—तुम्हें प्रेसीडेन्टी आफ़र करते हुए मुझे दुःख हो रहा है। ?

विनयमोहन—[कठोर स्वर से] तुम इस बात से इन्कार नहीं कर सकते।

निर्ममलचंद्र—[कुछ ठहरकर घृणा भरे स्वर से] तो क्या मैं भी पूछूं कि पार्टी ने किसे प्रेसीडेन्ट चुना, और तुम्हें चुना या नहीं,

यह जानने के लिए तुम इतने अधीर क्यों थे ?

विनयमोहन—[दृढ़ता से] मैं क्यों अधीर था और क्यों, यह तो इसका फ़ैसला हो चुका है लेकिन तुम्हारे प्रस्ताव में क्यों दुःख था, इसका निर्णय होना बाकी है।

[निर्मलचन्द्र कोई उत्तर नहीं देता और खिड़की से बाहर की तरफ देखने लगता है। विनयमोहन निर्मलचन्द्र की ओर देखता है कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

निर्मलचंद्र—[विनयमोहन की तरफ देखते हुए] मेरे आफर में क्यों दुःख था, यह जानना चाहते हो ?

विनयमोहन—अवश्य।

निर्मलचंद्र—[दृढ़ता से] इसलिए कि मेरे प्रेसीडेन्ट होने से तुम्हें दुःख होता, इसलिए कि तुम प्रेसीडेंट होने के लिये प्राण दे रहे हो।

विनयमोहन—[क्रोध से] इसलिए नहीं, इसलिए कि मैं अगर प्रेसीडेंट हो गया तो तुम न हो पाओगे।

निर्मलचंद्र—[अत्यन्त क्रोध से] विनय !

विनयमोहन—[और भी अधिक क्रोध से] निर्मल !

[दोनों एक साथ लम्बी सांस लेकर खिड़कियों से बाहर देखने लगते हैं। कुछ देर फिर निस्तब्धता रहती है।]

निर्मलचंद्र—[बाहर की तरफ ही देखते हुए] एक बात जानते हो ?

विनयमोहन—क्या ?

निर्मलचंद्र—[अत्यन्त घृणा से] तुम में इतने दोष हैं कि तुमसे प्रेसीडेंटी एक दिन न चलेगी।

विनयमोहन—[और भी अधिक घृणा से] और तुम्हारे दोषों की तो गिनती ही नहीं है। तुम से तो वह एक क्षण नहीं चल सकती।

निर्मलचंद्र—[अत्यन्त क्रोध से चिल्लाकर] बस, विनय, बहुत हुआ।

विनयमोहन—[और भी ज्यादा क्रोध से गरजकर] मैंने भी बहुत बर्दाश्त कर ली।

[दोनों फिर चुप हो जाते हैं। और लम्बी सांसें लेने लगते हैं।]

विनयमोहन—[एकाएक खड़े होकर] अपने रूफ़ के अन्दर आपने मेरा काफी अपमान किया है। मैं अब आपसे इजाज़त चाहता हूँ।

[निर्मलचंद्र कोई उत्तर नहीं देता और विनयमोहन जल्दी जल्दी दाहनी तरफ के दरवाजे से चला जाता है।]

यवनिका-पतन

उपसंहार

स्थान—निर्मलचंद्र के मकान का बैठकख़ाना।

समय—प्रातःकाल।

[दृश्य वैसा ही है जैसा मुख्य दृश्य में था। निर्मलचंद्र अकेला तख़्त पर बैठा हुआ गौर से एक चिट्ठी पढ़ रहा है। विनयमोहन का एक चिट्ठी हाथ में लिये हुए प्रवेश।]

विनयमोहन—निर्मल, मैं तुमसे क्षमा मांगने आया हूँ।

निर्मलचंद्र—[खड़े होकर] और मैं तुमसे माफी मांगने आ रहा था, विनय।

[दोनों तख़्त पर बैठ जाते हैं।]

विनयमोहन—[अपने हाथ की चिट्ठी निर्मलचंद्र को देते हुए] इस चिट्ठी को पढ़ोगे?

निर्मलचंद्र—(अपने हाथ की चिट्ठी विनयमोहम को देते हुए) और तुम इस चिट्ठी को देखोगे।

[विनयमोहन निर्मलचन्द्र की चिट्ठी ले लेता है और निर्मलचन्द्र विनयमोहन की। दोनों चिट्ठियों को पढ़ते हैं चिट्ठियों को पढ़ने के बाद एक साथ।]

निर्मलचंद्र—विनय !

विनयमोहन—निर्मल !

निर्मलचंद्र—विनय, भगवान् को साक्षी देकर कहता हूं कि मैं प्रेसीडेन्ट नहीं होना चाहता, और जैसा मैंने पार्टी को अपनी चिट्ठी में लिखा है, मैं हृदय से चाहता हूं कि यह पद तुम्हें मिले।

विनयमोहन—और, निर्मल, मैं भी भगवान् को साक्षी देकर कहता हूं कि मैं भी प्रेसीडेन्ट नहीं होना चाहता, और जैसा मैंने पार्टी को अपने पत्र में लिखा है, अन्त:करण से चाहता हूं कि यह पद तुम सुशोभित करो।

निर्मलचंद्र—ऐसा कभी नहीं हो सकता।

विनयमोहन—तो जो तुम चाहते हो वह भी कभी नहीं हो सकता।

निर्मलचंद्र—मेरा कहना नहीं मानोगे ?

विनयमोहन—और तुम मेरा कहना नहीं मानोगे ?

निर्मलचंद्र—ज़िद न करो।

विनयमोहन—तुम भी हठ न करो।

निर्मलचंद्र—विनय !

विनयमोहन—निर्मल !

[दोनों चुप होकर एक दूसरे को देखते हैं।]

निर्मलचंद्र, विनयमोहन—[एक साथ] तब ?

[कुछ देर फिर दोनों चुप रहते हैं।]

निर्मलचन्द्र, विनयमोहन—(एक साथ) तुम्हें मंजूर करना ही होगा।

[कुछ देर फिर दोनों चुप रहते हैं।]

निर्मलचन्द्र—देखो, विनय, मैं अपने सम्बन्ध को इस प्रेसीडेन्टशिप से कहीं बड़ी चीज़ समझता हूं।

विनयमोहन—और मैं यह प्रेसीडेन्टशिप तो दूर रही, भारतीय साम्राज्य को प्रेसीडेन्टी, और भारतीय साम्राज्य की प्रेसीडेन्टी भी दूर रही अगर सारे संसार का फ़ेडरेशन बने और उसकी प्रेसीडेन्टी मिले तो, उससे भी अपनी मैत्री को बड़ी चीज़ समझता हूँ।

निर्मलचन्द्र—क्षणिक आवेश की बात दूसरी है, मैं इसे जानता हूँ, विनय।

विनयमोहन—जो तुम ने कहा मैं उसे दुहराता हूँ, निर्मल।

निर्मलचन्द्र—इस लिए जो कुछ कल हुआ उसे देखते हुए मैं इस पद को कभी मंजूर नहीं कर सकता।

विनयमोहन—तुमने मेरे मुख के शब्द छीन लिये और मैं कर सकता हूं?

[दोनों चुप रहते हैं। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

निर्मलचन्द्र—विनय!

विनयमोहन—निर्मल?

[फिर दोनों चुप हो जाते हैं।]

निर्मलचन्द्र—विनय, एक प्राण होते हुए भी हमारी........ हमारी दो देह अवश्य हैं।

विनयमोहन—इसी लिए हम प्रेम का आनन्द भोग सकते हैं।

निर्मलचन्द्र—और लोलुपता का दुःख भी।

विनयमोहन—जो पद हमें लोलुपता के नज़दीक ले जा सकता है ....

निर्मलचन्द्र—जो हम में एक दूसरे से स्पर्द्धा, और स्पर्द्धा ही नहीं, ईर्ष्या की उत्पत्ति कर सकता है।

विनयमोहन—जो हम से एक दूसरे के सामने झूठ बुलवा सकता है... .. ..

निर्मलचन्द्र—जो हमें एक दूसरे के लिए क्रोध पैदा करा सकता है...........

विनयमोहन—जो हम से एक दूसरे के लिए अपशब्द बुलवा सकता है.........

निर्मलचन्द्र—जो हमें एक दूसरे के दोष दिखा कर एक दूसरे के लिए यह कहला सकता है कि........

विनयमोहन—कि तुमसे प्रेसीडेन्टी एक दिन न चलेगी......

निर्मलचन्द्र—एक क्षण न चलेगी ......

विनयमोहन—निर्मल, हम ने एक दूसरे का उसके गुणों की अपेक्षा उसके दोषों के सबब अधिक प्यार किया है.........

निर्मलचन्द्र—और...और वे ही दोष, जिसपर लोलुपता के कारण हमें एक दूसरे के प्रति घृणा की ओर अग्रसरकर सकते हैं, उस पद को ....

विनयमोहन } —[एक साथ] हम दोनों मंजूर नहीं कर
निर्मलचन्द्र } सकते।

[दोनों फिर चुप हो जाते हैं।]

विनयमोहन—लिखो पार्टी को, दूसरी चिट्ठी।

निर्मलचन्द्र—संयुक्त; फ़ौरन।

विनयमोहन—हम दोनों साधारण नागरिक रह कर भी अपना, समाज, देश और विश्व का उत्कर्ष कर सकते हैं।

निर्मलचन्द्र—और अपने प्रेम के द्वारा विश्व से प्रेम करना सीख उसकी सेवा कर सकते हैं।

विनयमोहन—[गद् गद् स्वर से निर्मलचन्द्र की ओर एक-टक देखते हुए] निर्मल !

निर्मलचन्द्र—[उसी तरह विनयमोहन को देखते हुए उसी स्वर से] विनय !

यवनिका-पतन

जीवनी

श्री उदयशंकर भट्ट स्वभाव से कवी हैं—इधर नाटकरचना में इनका विशेष अनुराग है। इन्हों ने अपनी साधना के सहारे निरन्तर विषय और शैली की दृष्टि से अनेक प्रकार के नाटक लिखे हैं। इन के कतिपय नाटकों में बुद्धिवाद की झलक है। किन्तु काव्य और नाट्य दोनों पक्षों का सामंजस्य ही इनकी कला की विभूति है।

यह गीत कवि हैं अतः भाव नाटकों में इन्हें अपूर्व सफलता मिली है। इन दिनों रेडियो-विधान के अनुकूल इन्हों ने समस्या मूलक एकांकी नाटकों का भी सृजन किया है।

× × × ×

'बीमार का इलाज' इनका संग्रहीत एकांकी भारतीय गृह-जीवन पर व्यंग ही नहीं—एक समस्या है। हमारी अन्धानुकरण प्रवृत्ति ने शिक्षित को भी अशिक्षित-सा बना दिया है। आये दिन घर-घर में एक बीमार के लिये एक साथ अनेक चिकित्सकों—डाक्टर, वैद्य, ओझा, मोलवी, पण्डित, आयुर्वेद, होमियोपैथी, ऐलोपैथी के दर्शन होते हैं। हम 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार 'बीमार का इलाज' करते हैं। देश-काल, जल वायु की अनुकूलता नहीं देखते।

एकांकी में गृह जीवन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है।

बीमार का इलाज

पात्र-परिचय

चन्द्रकांत	...	आगरे का एक रईस, जो अंग्रेजी सभ्यता व रहन-सहन का प्रेमी है। एकदम भारी भरकम, उम्र ४५ वर्ष।
कांति	...	चन्द्रकांत का बड़ा पुत्र। उम्र लगभग २१-२२ वर्ष।
विनोद	...	कांति का समवयस्क मित्र।
शांति	...	कांति का छोटा भाई।
सरस्वती	...	कांति की माँ अपने पति से सर्वथा भिन्न दुबली-पतली, पुराने विचारों की।
प्रतिमा	...	कांति की बहन—एक दम मोटी, उम्र २४ वर्ष।

डा० गुप्ता, डा० नानकचन्द, वैद्य हरिचन्द, बूढ़ा और सुखिया, पण्डित, पुजारी इत्यादि।

बीमार का इलाज

[आगरे में कांति के पिता मि० चन्द्रकांत की कोठी का एक कमरा। कमरे की सजावट एक सम्पन्न परिवार के अनुरूप—सोफा सेट, कुर्सियाँ, तिपाई इत्यादि सभी वस्तुएँ मौजूद हैं—पर नौकर पर निर्भर रहने तथा रूढ़िवादी गृह-स्वामिनी के कारण स्वच्छता, सलीके का अभाव; दरी पर बिछी हुई चादर काफी मैली है। जिस समय का यह दृश्य दिखाया जा रहा है, उस समय सवेरे के आठ बजे हैं। कांति का मित्र विनोद बिस्तर पर लेटा है उसे अचानक रात में ज्वर हो गया, लगभग १०४ डिग्री। कड़ी काठी होने के कारण वह लापरवाही से कभी उठकर बैठ जाता है और कभी उठकर टहलने लगता है। वह अपने भीतर से यह विचार निकाल देना चाहता है कि उसे ज्वर है। फिर भी ज्वर की तेजी उसे बेचैन कर देती है और वह लेट जाता है। कुछ देर बाद कांति 'नाइट ड्रेस' में कन्धे पर तौलिया डाले चपलियाँ फटफटाता, सीटी बजाता बायें दरवाज़े से कमरे में आता है]

कांति—हलो विनोद, अमाँ अभी तक चारपाई से चिपटे हो—आठ बज रहे हैं। क्या भूल गए, आज गाँव जाना है? मैं तो स्वयं देर से उठा, वरना मुझे कब तक तैयार हो जाना चाहिए था। लेकिन तुमने तो कुम्भकर्ण के चाचा को भी मात कर दिया, यार! [पास जाकर] क्या बात है? ख़ैर तो है?

विनोद—रात न जाने क्यों बुख़ार हो गया. [हाथ फैलाकर] देखो?

कांति—[देह छूकर] ओह, सारी देह अंगारे की तरह दहक रही है।

विनोद—कम्बख्त बुखार कैसे बेमौके आ धमका !

कांति—यार, इस बुखार ने तो सारा मजा किरकिरा कर दिया। इलाहाबाद से मैं तुम्हें कितने आग्रह से छुट्टियां बिताने के लिए यहाँ आगरे लाया था—सोचा था, कुछ दिन यहाँ घर में आनन्द-मौज करेंगे और फिर खूब गांव की सैर करेंगे।

विनोद—मालूम होता है, मेरे भाग्य में गांव की सैर नहीं लिखी है। ये छुट्टियां बेकार ही गईं।

कांति—गांव का रास्ता बड़ा ऊबड़-खाबड़ है। इस दशा में तुम्हारा गांव जाना असम्भव है। सोचता हूं, मैं भी न जाऊं; पर जाये बिना काम भी तो नहीं चलेगा। कल चाचाजी शायद मुकदमे के लिए बाहर चले जायंगे; न जाने कब तक लौटें! कहो तो मैं अकेला ही हो आऊं—इफ यू डोण्ट माइण्ड !

विनोद—नहीं, नहीं, तुम हो आओ। उन्हों ने आग्रह करके बुलाया है, हो आओ। मैं ठीक हो जाऊंगा। कोई बात नहीं।

कांति—तुम्हें कोई तकलीफ न होगी। डाक्यर आ जायगा। पिता-माता सभी तो हैं। मैं शाम को ही लौटने का यत्न करूंगा।

विनोद—नहीं, नहीं, मामूली बुख़ार है, ठीक हो जायगा। जाओ।

[कांति के पिता चन्द्रकांत का प्रवेश]

चन्द्रकांत—[दूर से] किसको बुख़ार है, बेटा काँति ? अरे इतनी देर हो गई, तुम अभी तक गांव नहीं गये। धूप हो जायगी। धूप, धूल और धुआं इनमें तीन न सही, दो ही आदमी के प्राण निकालने को काफी हैं। उस पर घोड़े की सवारी—न कूदते बने न सीधे बैठते। बुख़ार किसे हो गया बेटा ?

कांति—बाबू जी, विनोद को रात बुखार हो गया। देह तवे की तरह गरम है। डाक्टर को बुलाना है। ऐसे में इसका जाना !

चन्द्रकांत—हैं हैं, विनोद कैसे जा सकता है! और फीवर,

जंगल में आग की तरह उद्दण्ड ! अभी डाक्टर को बुलाकर दिखा देना होगा। मैंने निश्चय कर लिया है, डाक्टर भटनागर अब इस घर में क़दम नहीं रख सकता। उसने प्रतिमा का केस खराब कर दिया था। बुखार उससे उतरता ही न था। यह एक दम बकरे के थन की तरह निकम्मा सिद्ध हुआ। वैसे पूछो तो उस बिचारे का कसूर भी नहीं था, दवा तो उसने एक-से-एक बढ़िया दी; पर इससे क्या, बुखार तो नहीं उतरा। टाइफाइड को छोड़कर चाहे उसका बाप भी क्यों न हो, उसे कुछ-न-कुछ तो उतरना ही चाहिए। डाक्टर गुप्ता ने आते ही उतार दिया। अब तो गुप्ता ही मेरा फैमिली डाक्टर है। गुप्ता को बुलाओ। सुखिया, ओ सुखिया, जा जरा डाक्टर गुप्ता को तो बुला ला। कहना—वह कांति के मित्र हैं न, जो प्रयाग से आये हैं, उन्हें बुखार हो गया है ; ज़रा चलकर देख लीजिये। बाबूजी ने कहा है। बेटा, मान गया मैं तो······

कांति—डा० भटनागर में मेरा 'फेथ' कभी नहीं रहा बाबूजी, लेकिन डा० नानकचन्द भी कम नहीं है। विनोद को उसे दिखाना ही ठीक होगा। न जाने उसके हाथ में कैसा जादू है। मेरा तो दिन-पर दिन 'होमियोपैथी' में विश्वास बढ़ता जा रहा है।

चन्द्रकांति—[कमरे में टहलते हुए] मेरे बच्चे, तुम पढ़-लिखकर भी नासमझ ही रहे। बिना अनुभव के समझदार और बच्चे में अन्तर ही क्या है। अरे होमियोपैथी भी कोई इलाज है ! चाकलेट या मीठी गोलियां न दीं; होमियोपैथिक दवा दे दी ! याद रखो, बड़ों की बात गांठ बांध लो—जब इलाज करो, एलोपैथिक डाक्टर का इलाज करो। 'कड़वी भेषज बिन पिये, मिटे न तन को ताप'। ये बाल धूल में सफेद नहीं हुए हैं। कहते क्यों नहीं विनोद बेटा ?

विनोद—जी ! [करवट बदल लेता है]

चन्द्रकांत—ये वैद्य-हकीम क्या जानें, हरड़-बहेड़ा और शरबत-शोरबे के पण्डित !

कांति—मैं चाहता हूं आप इस मामले में...

चन्द्रकांत—नहीं, यह नहीं हो सकेगा। मैं जानता हूं विनोद का भला इसी में है।

[सुखिया का प्रवेश]

सुखिया—सरकार वो बाबू आये हैं।

चन्द्रकांत—अबे कौन बाबू, नाम भी बतायगा या यों ही...

सुखिया—वही जो उस दिन रात को आये थे।

चन्द्रकांत—लो और सुनो, गधों से पाला पड़ा है।

सुखिया—वह बाबू सरकार···

चन्द्रकांत—कह दे, आता हूं। और मैंने तुझे डाक्टर के पास भेजा था। जल्दी जा [स्वयं भी चला जाता है]

कांति—तुम घबराना मत। मैं डाक्टर नानकचन्द को बुलाकर लाऊंगा। अव्वल तो मेरा ख्याल है, शाम तक बुखार उतर जायगा। अच्छा विनोद, देर हो रही है चलूं। अभी मुझे बाथ-रूम भी जाना है।

विनोद—हां, हां, तुम जाओ। मैंने बुखार की कभी परवाह नहीं की है, कांति। उतर जायगा अपने-आप। शाम तक लौटने की कोशिश करना।

कांति—अवश्य, अवश्य, तुम्हारे बिना मेरा मन भी क्या लगेगा। लेकिन जाना ज़रूरी है। अच्छा, विश यू आल राइट।

[सीटी बजाता चला जाता है]

विनोद—नमस्कार। [करवट बदल कर लेट जाता है]

[कांति की मां सरस्वती का प्रवेश]

सरस्वती—[कमरे में घुसते ही] विनोद, क्या बात है? उठो चाय-वाय तैयार है। कुछ खाओ पियो। [पास जाकार] क्या

बात है, खैर तो है ? कुछ तबियत खराब है क्या ? [पलंग के पास जाकर विनोद को छूकर] आय-हाय ! देखो तो कितना बुखार है ! मुंह इंगुर-सा लाल हो रिया है बिचारे का—घबराओ मत बेटा, मैं अभी वैद हरिचन्द को बुलाती हूं । देखकर दवा दे जायंगे । बड़े काबिल वैद हैं, विनोद । ज़रा कपड़ा ओढ़ लो न । [उढ़ाती है] जैसा कांति वैसा ही तू । मेरे लेखे तो दोनों एक हो । क्या सिर में कुछ दर्द है ? [हाथ फेर कर] कब्जी होगी । अभी ठीक हो जायगी । सुखिया, ओ सुखिया । न जाने कहां मर गया । इन नौकरो के मारे तो नाक मे दम हो गया है । अरे शांति, ओ शांति । [शांति आता है] देख तो बेटा, जा हरिचन्द वैद जी को बुला ला देखकर दवा दे जायंगे । भैया वैद हो तो ऐसा हो···

विनोद—माता जी, बाबू जी ने डाक्टर गुप्ता को बुलाया है । शायद कांति ने डाक्टर नानकचन्द के लिए कहा है ।

सरस्वती—लो और सुनो, इनके मारे भी मेरा नाक में दम है । उस मरे डाक्टर को न कुछ आवे है, न जावे है । न जाने क्यों डाक्टर गुप्ता के पीछे पड़े रहे हैंगे । क्या नाम है उस मरे भटनागर का ? इन दोनों ने तो छोरी को मार ही डाला था । वह तो कहो, भला हो इन वैद जी का, बचा लिया । जा बेटा शांति, जा तो सही जल्दी ।

शांति—जाऊँ हूं माँ । [चला जाता है]

सरस्वती—अरी प्रतिमा, ओ प्रतिमा, [दूर से ही आवाज आती है—'हां मां क्या है ?'] देख ज़रा मन्दिर में पण्डित जी पूजा कर रहे हैं । उनसे कहियो, ज़रा इधर होते जायं । और देख, उनसे कहियो, मार्जन का जल लेते आवें, विनोद भैया बीमार हैं । मैंने घर में ही मन्दिर बनवाया है बेटा !

विनोद—[उत्सुकता से करवट बदल कर] पण्डित जी का क्या होगा यहां मां ?

सरस्वती—बेटा, ज़रा मार्जन कर देंगे। अपने वो पण्डित जी रोज पूजा करने आवें हैं। मार्जन कर देंगे। सारी अला-गला दूर हो जायगी। तुम पढ़े-लिखे लोग मानो या न मानो, पर मैं तो मानूं हूंगी भैया! पिछले दिनों प्रतिमा बीमार थी। समझ लो पण्डित जी के मार्जन से ही अच्छी हुई। मैंने कथा में एक बार सुना था—बुखार-उखार तो नाम के हैं, असली तो ये ग्रह, भूत ही हैं जो बुख़ार बनकर आजायं हैंगे। सिर दबा दूं क्या बेटा? जैसे कांति वैसे तुम। तब तक न हो थोड़ा-सा दूध पी लो। अरी मिसरानी, ओ मिसरानी! [दूर से आवाज—'आई बहू जी'] अरी देख, थोड़ा दूध तो गरम कर लाइयो।

विनोद—दूध तो मैं नहीं पीऊंगा माताजी।

सरस्वती—[चिल्लाकर] अच्छा रहने दे। [विनोद से] क्या हर्ज है, थोड़ी देर बाद सही। जरा ओढ़ लो, मैं अभी आई। [जैसे ही लाने लगती है वैसे ही मार्जन का जल, दूर्वा लेकर पण्डितजी कमरे में आते हैं। सरस्वती पण्डितजी से] देखो पण्डितजी, तुम्हारी पूजा से प्रतिमा जी उठी थी। याद है न? यह मेरे कांति का मित्र है। देखो एक साथ पढ़े हैं। तुम्हें नहीं मालूम आज-कल वो आया है न! चाचा ने बुलाया है, आज गांव जा रिया है। विनोद भी जा रिया था, पर इस बिचारे को बुखार हो गिया। ज़रा मंत्र पढ़कर मार्जन तो कर दो।

पण्डितजी—क्यों नहीं, बहू जी, मंत्र का बड़ा प्रभाव है। पुराने समयों में दवा दारू कौन करे था। बस, मंत्राभिसिक्त जल से मार्जन करा के बीमारी गई। तुम तो बीमारी की कहो हो, यहाँ तो मरे जी उठे थे मरे, जिनके जीने का कोई सवाल ही नहीं उठे था। [आंखें मटकाकर] हां, ऐसा था मन्त्र का प्रभाव।

सरस्वती—सच कहो हो पण्डित जी, जरा कर तो दो मार्जन। वैसे मैंने अपने उन वैदजी को भी बुलाया है। शान्ति गया है बुलाने।

पण्डितजी—तभी, तभी, मैं भी कहूँ आज शान्ति बाबू नहीं दिखाई दिये। ठीक है, एक शत्रु पर जब दो पिल पड़ें तो वह कैसे बचकर जायगा। अच्छा, ये कान्ति बाबू के दोस्त हैं! अच्छा है भैया, खुश रहो, खूब पढ़ो-लिखो, धर्म में श्रद्धा रखो—हम तो ये कहे हैं। क्यों बहू जी ?

सरस्वती—हां और क्या, पर आजकल के ये पढ़े-लिखे कुछ मानें तब न ? तुम्हारे उन्हीं को देख लो, कुछ दिनों से डाक्टरों के चक्कर में पड़े हैं। मैं कहूं हूं, अपने बुजुर्गों की दवाइयां क्यों छोड़ी जायं ? जब ये डाक्टर नहीं थे तब क्या कोई अच्छा नहीं होवे था ? सभी ठीक होयं थे। अब न जाने कैसा ज़माना आ रिया है।

पण्डित जी—जमाना बड़ा खराब है, बहू जी ! देवता, ब्राह्मण और गौ पर तो जैसे श्रद्धा ही न रही।

सरस्वती—अच्छा पण्डित जी, मार्जन कर दो, मैं अभी आई। [चली जाती है। पण्डित मंत्र पढ़कर विनोद के ऊपर बार-बार जल छिड़कता है। इसी समय डाक्टर को लेकर चन्द्रकांत प्रवेश करता है।]

चन्द्रकांत—हैं हैं, अरे क्या हो रहा है ? [पास जाकर] बस करो, ब्राह्मण देवता, बस करो, [जोर से] अरे, तुम क्या समझते हो इसे भूत है ? रहने दो। न जाने इन औरतों को कब बुद्धि आयेगी। अरे, डाक्टर गुप्ता, आप इधर बैठिये न।

पण्डितजी—बस, थोड़ा ही मार्जन रह गया है, बाबू जी। [मार्जन करता है]

डाक्टर गुप्ता—महाराज, क्यों मारना चाहते हो बीमार को। निमोनिया हो जायगा, निमोनिया। [पण्डित डाक्टर के कहने पर भी मार्जन किये जाता है] अटर न्यूसेन्स, मिस्टर चन्द्रकान्त !

चन्द्रकांत—[कड़क कर] बस रहने दो। सुनते नहीं डाक्टर गुप्ता क्या कह रहे हैं ? निमोनिया हो जायगा।

पण्डित जी—जैसी आपकी इच्छा। मेरा तो विचार है, विनोद

बाबू का इतने से ही बुखार उतर गया होगा। [चला जाता है]

डाक्टर गुप्ता—मंत्रों से बीमारी अच्छी हो जाती तो हम क्या भाड़ झोंकने को इतना पढ़ते! न जाने देश का यह अज्ञान कब दूर होगा! [डाक्टर खाट के पास खड़ा होकर विनोद को देखता है।] बुखार तेज है। जीभ दिखाइये। पेट दिखाइये। [थर्मामीटर लगाकर नाड़ी की गति गिनता है, फिर थर्मामीटर देखकर] १०४ डिगरी। कोई बात नहीं, ठीक हो जायगा। दवा लिखे देता हूं, डिस्पेन्सरी से मगा लीजियेगा। दो-दो घण्टे बाद। पीने को केवल दूध। यू विल बी आल राइट विध इन टू आर थ्री डेज़।

चन्द्रकांत—डाक्टर गुप्ता, ये कान्ति के दोस्त हैं। बिचारे उसके साथ सैर को आये थे।

डाक्टर गुप्ता—ठीक हो जायंगे। बेचैनी मालूम हो, बुखार न उतरे तो बरफ रखियेगा सिर पर।

चन्द्रकांत—ठीक है। [विनोद से] घबराने की कोई बात नहीं। ठीक हो जाओगे' मामूली बुखार है। मैं अभी दवा लाता हूं।

डाक्टर गुप्ता—मैं शाम को भी आकर देख लूंगा। अच्छा मिस्टर चन्द्रकान्त! [एक तरफ से दोनों चले जाते हैं। दूसरी तरफ से सरस्वती आती है।]

सरस्वती—क्या हुआ, पण्डित जी चले गये? मार्जन कर गये?

विनोद—[चुपचाप पड़ा रहता है]

सरस्वती—[देह छूकर] अब तो बुखार कम है। देखा मंत्र का प्रभाव, मार्जन करते ही फरक पड़ गया। [वहीं से चिल्लाकर] प्रतिमा, ओ प्रतिमा, सुनियो री जरा।

प्रतिमा—[वहीं से चिल्लाती हुई] क्या है?

सरस्वती—देख तो पण्डित जी गये क्या। बुखार तो कुछ उतरा दिखाई दे है। उनसे कह जरा और थोड़ी देर मार्जन कर दें। [प्रतिमा जाती है]

विनोद—नहीं रहने दीजिये। वे मार्जन कर गये हैं।

सरस्वती—क्या हर्ज है, अपने घर के ही पण्डित तो हैं। आधी रात को बुलाओ तो आधी रात को आवें। मखौल है क्या, बीस रुपये महीना, तीज-त्यौहार इस पर आटा-सीधा अलग। तीस तो पड़ी जाये हैंगे। ऊपर से भी आमदनी हो जायगी।

[प्रतिमा आकर]

प्रतिमा—पण्डितजी तो गये, अम्मा।

विनोद—माता जी, मार्जन रहने दीजिये। काफी हो गया। [चुप हो जाता है। वैद हरिचन्द शान्ति के साथ आते हैं]

सरस्वती—लो, वैद जी आ गये। आओ वैद जी।

हरिचंद—क्या बात है बहू जी? सवेरे-ही सवेरे शान्ति जो पहुँचा तो मैं डर गया। कायदे से किसी आदमी को देखकर वैद्य को खुश होना चाहिये, परन्तु मेरी आदत और ही है, मैं तो चाहता हूँ अपनी जान-पहचान के लोग सदा प्रसन्न रहें। हाँ, क्या बात है? [संकेत से पूछता है]

सरस्वती—ये कान्ति के साथ पढ़े हैं वैद जी। छुट्टियों में उसी के संग सैर को आया, सो विचारा बीमार पड़ गया! जरा देखो तो—

[जैसे ही वैद नाड़ी देखने को बढ़ता है वैसे ही विनोद बोल उठता है।]

विनोद—डाक्टर गुप्ता भी देख गये हैं, माता जी।

हरिचंद—फिर मेरी क्या आवश्यकता है, मेरा काम ही क्या है [एकदम दूर जा खड़ा होता है] मैं ऐसे रोगियों का इलाज नहीं करता। उसी डाक्टर का इलाज करो। और मैं तो राजा भूपेन्द्रसिंह के यहाँ जा रहा था। सोचा बाबू जी ने बुलाया है तो जाना ही चाहिये।

[लौटने लगता है]

सरस्वती—वैद जी, उनकी भली चलाई। आने दो डाक्टर

गुप्ता को। इलाज तो तुम जानो, तुम्हारा ही होगा। मैं क्या कान्ति के मित्र को और बीमार होने दूँगी ? नहीं, तुम्हें ही इलाज करना होगा। तुम्हारी ही दवा दी जायगी। चलो देखो। उन मरों ने प्रतिमा को मार ही दिया था। तुम्हीं ने तो बचाया। वाह, यह कैसे हो सके हैगा ? इस घर में डाक्टरी नहीं चलेगी।

हरिचंद—[पास जाकर विनोद को देखते हुए] हाँ, सोच लो। मैं उन लोगों में से नहीं हूं जो दवा देनेके लिये भागते फिरें। मैं अच्छी तरह जानता हूं, बाबू चन्द्रकांत डाक्टरों के चक्कर में पड़ गये हैं, जो अंग्रेजी दवाइयाँ देकर लोगों को मार देते हैं। [व्यंग से हँसकर] ये डाक्टर भी अजीब हैं। देशी बीमारी और अंग्रेजी दवाई ! न देश, न काल ! [विनोद को देखकर] पेट खराब है। काढ़ा देना होगा। एक गोली दूँगा, काढ़े के साथ दे देना। बुखार पचेगा और ठीक हो जायगा।

सरस्वती—[उछल कर] मैं कह नहीं रही थी कब्जी से बुखार है। कहो विनोद, क्या कहा था ? घोड़ी नहीं चढ़े तो क्या बरात भी नहीं देखी ! बहुत-सी बीमारी का इलाज तो मैं खुद ही कर लूँ हूँगी।

हरिचंद—बीमारी पहचानने में कर तो ले कोई मेरा मुकाबला बड़े-बड़े सिविल सर्जन मुझे बुलाते हैं। अभी उस दिन राजा साहब के यहाँ सारे शहर के डाक्टर इकट्ठे हुए, किसी के समझ में नहीं आ रहा था क्या बीमारी है। मुझे बुलाया गया, देखते ही मैंने झट से कह दिया यह बीमारी है।

सरस्वती—[वैद की तरफ विश्वास से देखकर] फिर मान गए।

हरिचन्द—मानते न तो क्या करते ! वह सिक्का बैठा कि शहर भर में धूम मच गई। अब रोज जाता हूं।

सरस्वती—आराम आ गया फिर ? भला क्यों न आराम आता। हमारे वैद जी क्या कोई कम हैं।

हरिचन्द—अभी देर लगेगी। पुराना रोग है। ठीक हो जायगा।

सरस्वती—अरे, तो आराम नहीं आया ? भला कौन बीमार है ?

हरिचंद—उनकी बड़ी लड़की।

सरस्वती—[साश्चर्य] वह गप्पो, क्या वैद जी ? बड़ी अच्छी लड़की है बिचारी। राम करे अच्छी हो जाय !

हरिचंद—हाँ। अच्छा, चला। काढ़ा और गोली भेज दूंगा। पहले बुखार पचेगा, फिर उतरेगा। उस दिन राजा साहब बोले—वैद्य जी हमने आपको अपने परिवार का चिकित्सक बना लिया है।

सरस्वती—सो तो है ही। तुम्हें क्या कमी है ! मैं तुमसे यही तो कहूँ हूं कि हमें तो वेद जी की दवा लगे है। पर न जाने······

हरिचंद—सस्ती दवा, थोड़ी फीस, देशकाल के अनुसार। और क्या मैं डाक्टरी नहीं जानता ? मैंने भी तो मेटीरिया मेडिका सर्जरी पढ़ी है।

सरस्वती—सो तो है ही वैद जी। [सरस्वती वैद के साथ एक द्वार से निकल जाती है। दूसरे से चन्द्रकान्त सुखिया के साथ दवा लेकर आते हैं।]

चंद्रकांत—लो बेटा विनोद, एक खुराक पी लो। अभी ठीक हो जाओगे। [विनोद को उठाकर दवा पिलाता है]

विनोद—अभी वैद हरिचन्द भी देखने आये थे।

चंद्रकांत—[चौंककर] आये थे ? वे मूर्ख वैद ! वह क्या जाने इलाज करना। इन औरतों के मारे नाक में दम है साहब। दवा तो नहीं पी न ? अच्छा दो-दो घण्टे बाद दवा लेते रहना। पीने को दूध, बस और कुछ नहीं। मैं काम से जा रहा हूँ। [जाते-जाते सुखिया से] देख, तू यहाँ बैठ। बाबू की देख-भाल करना भला।

सुखिया--जी सरकार।

[चन्द्रकान्त चला जाता है]

बाबू मैं तो झाड़-फूँक में विश्वास करता हूँ। हाथ फेरते ही बुखार उतर जायगा। यह ओझा से पानी लाया हूँ। दो घण्टे में बुखार क्या उसका नाम भी न रहेगा। मैंने तो छोटे बाबू से सवेरे ही कहा था--कहो तो ओझा को बुलाऊँ पर वे न माने। कहा, तू पागल है सुखिया। मैं चुप हो रहा। क्या करता, गरीब आदमी ठहरा। अभी दो घण्टे में बुखार का नाम भी न रहेगा बाबू!

विनोद--अरे कहीं बुखार भी झाड़-फूंक से गया है सुखिया! मैं तो गाँव का रहने वाला हूं। मैंने तो कहीं नहीं देखा कि बुखार झाड़-फूँक से उतरता है। जरा पानी तो दो।

सुखिया—[दरी पर बैठकर तमाखू खाता हुआ] शर्त बद लो शर्त! और वह ओझा तो वैदगी भी जाने है। हमारे यहां तो कोई भी और कहीं नहीं जाय हैगा। वैसे तुम्हारी मर्जी। पानी पियोगे? देता हूं। यही पानी पी लो न। किसी को मालूम भी न होगा। न दवा, न दारू। [पानी देता है]

विनोद—[पानी पीकर] नहीं सुखिया, ओझा की कोई आवश्यकता नहीं है। कांति गया क्या?

सुखिया—गये होंगे। घोड़ी तो दो दिन से खड़ी थी। अब तो पहुँचने वाले होंगे।

[इसी समय सरस्वती कटोरे में काढ़ा और दूसरे हाथ में दवा की गोली लेकर आती है।

सरस्वती—लो बेटा विनोद, ज़रा जी कड़ा करके पी तो लो। ऊपर से ये गोली खा लो। नहीं नहीं, पहले गोली फिर काढ़ा। मैं भी कितनी भुलक्कड़ हूँ!

विनोद—दवा तो अभी मैं पी चुका हूं, माताजी। बाबूजी

पिला गये हैं।

सरस्वती—क्या कहा, दवा दे गये हैं? कोई हर्ज नहीं, फायदा तुम्हें इसी दवा से होगा। यह काढ़ा ऐसा-वैसा नहीं है। एकदम लाभ होगा और मेरा तो तजुर्बा है। प्रतिमा मर रही थी, इन्हीं वैदजी ने उसे जिलाया। लो पी तो लो। [कटोरा देती है। विनोद चुपचाप काढ़ा पीने लगता है, इसी तरह चन्द्रकान्त लौट आते हैं। विनोद को दवा पीते देखकर]

चन्द्रकान्त—यह क्या हो रहा है विनोद?

सरस्वती—दवा दे रही हूँ और क्या?

चन्द्रकान्त—तुम पागल हो गई हो। विनोद डाक्टर गुप्ता की दवा पी चुका है। और उसे और दवा देना!

सरस्वती—सुनो मैं यह नहीं मानती। मैं डाक्टर की दवा और डाक्टर दोनों को व्यर्थ समझती हूँ। मालूम नहीं है, प्रतिमा को इस डाक्टर ने मार ही डाला था, वह तो कहो वैद हरिचन्द ने बचा लिया।

चन्द्रकान्त—तुम मूर्ख हो। कहीं डाक्टर मूर्ख होता है? मूर्ख हैं ये वैद्य जो कुछ नहीं जानते। प्रतिमा को तो डाक्टर से लाभ हुआ था।

सरस्वती—बिलकुल गलत। दवा तो मैं देती थी। मुझे मालूम है, किससे लाभ हुआ उसे।

चन्द्रकान्त—विनोद, दवा मत पीयो; हर्गिज़ न पीयो। वैद्यों की दवा पीना मृत्यु को बुलाना है।

सरस्वती—बेटा, यह काढ़ा पीना बहुत आवश्यक है। इसे बिना पिये तुम्हें लाभ ही न होगा। इन्हें कहने दो। ये ऐसे ही कहते रहे हैं। यदि इन वैदजी की दवा न होती तो प्रतिमा कभी की मर गई होती।

चन्द्रकान्त—[कटोरा विनोद के हाथ से लेकर] इसे रहने दो। न जाने संसार से मूर्खता कब जायगी! लो इसे पीयो।

सरस्वती—नहीं, यह नहीं हो सके हैगा। तुम्हें मालूम है वैद

हरिचन्द की दवा से प्रतिमा मरते-मरते बची है। पराया लड़का है बिचारा, कान्ति के साथ सैर को आया है। डाक्टरों के चक्कर में पड़ा और बस। मैं हा हा खाती हूँ, इसे डाक्टर की दवा मत दो। रहने दो विनोद, क्या मैं इस घर की कोई भी नहीं हूं।

चन्द्रकान्त—क्या तुम यह नहीं मानतीं कि औरतों में बुद्धि थोड़ी होती है। मेरा कहा मानो और विनोद को डाक्टर की दवा पीने दो। अच्छा हो जायगा, सरस्वती !

सरस्वती—देखो जी, तुम क्या बात है मुझे ही सदा दबाते रहते हो। इस घर में कोई भी मेरी नहीं सुने हैगा। [एक दम रोकर] दो और गाली दो, मार लो। [काढ़ा गोली ज़मीन पर रखकर रोने लगती है। आंचल से आंसू पोंछती हुई] जैसे मैं इस घर की कोई भी नहीं हूँगी। ईं ईं ईं ईं न अच्छी बात सुने हैंगे न समझ की बात ईं ईं ईं ईं [रोती है]

चन्द्रकान्त—(हैरान रहकर) अरे तो भगवान्, मैंने तुझे गाली कब दी। मैंने तो यही कहा है कि डाक्टर की दवा से विनोद अच्छा हो जायगा।

सरस्वती—[रोते हुए] ईं ईं ईं ईं और गाली किसे कहे हैंगे। मुझे मरी को मौत भी तो नहीं आवे है। एक दफे मर जाऊं तो रोज़-रोज़ का झंझट तो जाय। [रोकर] वैद हरिचन्द ने जहर तो नहीं दिया है, काढ़ा और गोली ही तो दी है। फिर न जाने इतनी जिद क्यों है। मैं क्या कोई इसकी दुश्मन हूं। [हिचकी भर कर] अच्छा करो तो बुरा होय है। [अकड़कर] मैं साफ कह दूं हूँ, विनोद पियेगा तो काढ़ा ही, डाक्टर की दवा हरगिज हरगिज नहीं पियेगा।

चन्द्रकान्त—मैं कहता हूं विनोद डाक्टर की दवा पियेगा।

सरस्वती—मैं कहती हूं विनोद वैद की दवा पियेगा।

चन्द्रकान्त—तुम मूर्ख हो, तुम्हें कोई कहां तक समझावे। मैंने दुनियां देखी है। मैं जानता हूं आजकल किसकी दवा से फायदा होता है। देखो जिद न करो।

सरस्वती—[अड़ती हुई] देखो मेरी सुनो, घर के मामले में तुम्हें बोलने का कोई अधिकार नहीं है। विनोद अगर दवा पियेगा तो वैद की। वैदजी तभी तो कह गये हैं कि विनोद का बुखार ठीक हो जायगा। समझे कि नहीं।

चन्द्रकान्त—नहीं, नहीं हरगिज़ नहीं। विनोद दवा पियेगा तो डाक्टर की। नहीं तो कोई दवा न पियेगा।

विनोद—इससे तो अच्छा यह है कि मैं कोई दवा न पीऊं।

सरस्वती—यह कैसे हो सके है गा भैया, मैं मर जाऊं। इससे तो अच्छा है भगवान् मुझे उठालें। अब इस घर में मेरी कोई जरूरत नहीं है। हाय राम, दूसरों के सामने भी मेरा अपमान हो रिया है और तुम देख रहे होगे। [क्रोध से] मैं तो अपना सिर फोड़ लूंगी। इस घर म अब मेरी जरूरत ही क्या है। ले पी विनोद !

चद्रकान्त—[लाचारीसे] अच्छा भाई, काढ़ा पी लो, मुझे क्या। अजब परेशानी में जान है इन औरतों के मारे ! तुम लोग कभी कोई नई बात नहीं सीखोगी। कभी दूसरे का कहना न मानोगी। कभी भला-बुरा न सोचोगी। [अकड़कर] डाक्टर मेरा चाचा तो नहीं लगता लेकिन याद रखो विनोद, जल्दी अच्छा होने के लिए यह आवश्यक है कि तुम डाक्टर की दवा पियो। अच्छा चलो, विनोद के ऊपर ही फैसला रहा। क्यों विनोद ?

सरस्वती—देखा, लगे उसे बहकाने। वह क्या जाने बेचारा। मैं कहूं हूं एक दिन वैद की दवा देकर तो देखो। लो बेटा, पियो तो सही काढ़ा।

चन्द्रकान्त—और मैं दुश्मन हूं।

सरस्वती—तुम क्यों दुश्मन होते। राम करे इसके दुश्मन रहें ही नहीं न ! पियो तो सही।

विनोद—[दोनों के हाथ जोड़कर] यदि आप मुझे मेरे हाल पर छोड़ दें तो मैं शाम तक ठीक हो जाऊंगा।

दोनों—[चिल्लाकर] यह कैसे हो सकता है। दवा तो तुम जानो पीनी ही पड़ेगी।

विनोद—नहीं नहीं, आप क्षमा करें बाबूजी, मैं अंग्रेजी दवा पीने का आदी नहीं हूं।

सरस्वती—[चिल्लाकर] मैंने कहा था न कि विनोद को वैदजी की दवा से ही आराम होगा।

विनोद—नहीं, मैं वैद्य की दवा भी न पीऊंगा। मैं वैसे ही ठीक हो जाऊंगा, माताजी।

[उठकर चलने को तैयार होता है। इसी समय कान्ति डाक्टर नानकचन्द के साथ प्रवेश करता है।

कांति—आइये डाक्टर साहब मैंने कहा [पिता को देखकर] विनोद को जरा डाक्टर साहब को भी दिखा दूं। [विनोद की तरफ देखकर] अरे विनोद, तुम तो जा रहे हो। क्या बात है? सुनो देखो डाक्टर साहब आये हैं – होमियोपैथिक हैं। सुनो विनोद!

विनोद—मेरा बुखार घूमने से उतरता है कान्ति। मैं घूमने जा रहा हूं। [जाता है]

डाक्टर—ही इज सफरिंग परहेप्स फ्राम किंग्स डीसीज़। इनको नींद में घूमने की बीमारी मालूम होती है।

कांति—[चिल्लाकर] बिचारा विनोद! मैं जाता हूं। शायद वह अपने-आपे में नहीं है।

चंद्रकांत—लेकिन डाक्टर ने तो बुखार की दवा दी है।

सरस्वती—और वैदजी ने अपच का काढ़ा, डाक्टर साहब।

सुखिया—फायदा तो मेरे लाये पानी से हुआ है मैं ओझा से फुंकवाकर पानी लाया था।

डाक्टर—मिस्टर कान्ति, मुझे इस घर में सभी बीमार मालूम होते हैं; चलो।

सब—[चिल्लाकर] ओः डाक्टर!

(परदा गिरता है)

जीवनी

'प्रेमी' जी ने कविता के क्षेत्र में 'अग्निगान' का गाना भी किया है और 'अनन्त के पथ' की रसीली रागिनी भी छेड़ी है। यह कवि, नाटककार और कुशल सम्पादक भी हैं। विदेशी इतिहासकारों की कलुषित नीति 'लड़ाओ और राज्य करो' के विपरीत प्रेमी जी ने अपने नाटकों में हिन्दू मुस्लिम ऐक्य की भावना अभिव्यक्त की है। इनकी रचनाओं में गांधी-युग की राजनीति की छाप स्पष्ट पड़ी है।

आपका जन्म ग्वालियर में हुआ। आजकल आप सिनेमा क्षेत्र में चले गये हैं।

× × ×

वासना पाप का कुण्ड है, प्रेम गंगा की निर्मल धारा।

'मालव-प्रेम' में राष्ट्र-प्रेम ने व्यक्ति प्रेम पर विजय पाई है। प्रिय ने प्रियतम को अपने स्निग्ध-स्नेह के सूत्र में बांधकर देशद्रोह के पाप कुण्ड में गिरने से बचा लिया है। नारी, केवल वासना की कठपुतली नहीं त्याग की पावन प्रतिमा भी है। जो राष्ट्र के लिए अपने को और यहां तक अपने प्रियतम को भी निसंकोच न्योछावर कर देती है।

'प्रेमी' के इस एकांकी में व्यक्ति प्रेम और राष्ट्र-प्रेम में संघर्ष है।

मालव प्रेम

पात्र-परिचय

जयदेव—मालवगण का सेनापति ।

विजया—जयदेव की कुमारी बहिन ।

श्रीपाल—विजया का प्रेमी ।

स्थान—मालवदेश । काल—विक्रमी संवत् के २९ वर्ष पूर्व ।

—+—

मालव-प्रेम

[विक्रमी संवत् के प्रारम्भ होने से लगभग २५ वर्ष पूर्व का काल। चम्बल-तट का एक ग्राम। विजया नदी-तट की एक शिला पर बैठी हुई गा रही है। समय रात का प्रारम्भ, विजया की वय १६-१७ वर्ष के लगभग है। उज्वल गौरववर्ण, शरीर सुगठित लम्बा, अत्यन्त आकर्षक स्वरूप। आंखों में आकर्षण के साथ तेज। वेश सुरुचिपूर्ण होते हुए भी उसके स्वभाव के अल्हड़पन को व्यक्त करने वाला। सिर से उत्तरीय का पहलू खिसक भूमि पर गिर गया है। उत्तरीय के अतिरिक्त एक दुपट्टा वक्ष और कन्धे के आसपास लिपटा पड़ा है। लम्बे बाल वायु में लहरा रहे हैं।]

विजय—[गान]

जो निकट इतना, वही है
हाय, कितनी दूर ?
जब नयन मैं मूंदती, वह
छवि दिखा मुझको लुभाता ;
जब बढ़ाती हाथ तब
कुछ भी नहीं है हाथ आता।
धूल में मिलते अचानक
स्वप्न होकर चूर।
जो निकट इतना वही है
हाय, कितनी दूर !
जो सज्जन बन 'नयन-तारा'
लोचनों में है समाया।
वह गगन का चांद होकर

दूर से ही मुसकराया ।
इसलिए थमता नहीं है
आंसुओं का पूर ।
जो निकट इतना, वही है
हाय, कितनी दूर !
पालने में श्वास के है
हर घड़ी झूला झुलाया ।
क्यों न उसने प्रेम मेरा
आज तक पहचान पाया ।
मैं उसी को प्यार करने
के लिए मजबूर ।
जो निकट इतना, वही है
हाय, कितनी दूर ?

[विजया गीत गाने में तल्लीन है । श्रीपाल आकर उसकी नजर बचाकर उसके पास खड़ा रहता है । श्रीपाल एक बलिष्ठ और सुन्दर नवयुवक है । उसका वेश योद्धा का है । कमर में तलवार, हाथ में धनुष, कन्धे पर पीछे की ओर तरकश । वय लगभग २४ वर्ष]

श्रीपाल—विजया !

विजया—[गाना बन्द करके खड़ी होकर, उत्तरीय का पल्ला सिर पर डालती हुई ।] तुम बड़े अशिष्ट हो, श्रीपाल !

श्रीपाल—ऐसे कोमल कंठ से ऐसे कठोर शब्द शोभा नहीं देते, विजया !

विजया—तुम अपनी सीमा के बाहर जाते हो ?

श्रीपाल—मैंने तुम्हारा अपमान किया है क्या, विजया ?

विजया—अपमान तो नहीं किया ।

श्रीपाल—फिर ?

विजया—यहां एकांत में मुझे अस्त-व्यस्त भेष में देर तक चुप

चाप खड़े देखते रहना !

श्रीपाल—मैं तुम्हें जीवन भर देखना चाहता हूँ, विजया !

विजया—[किंचित् लज्जा मिश्रित क्रोध से] किस अधिकार से ?

श्रीपाल—जिस अधिकार से चांद तुम्हें इस समय देख रहा है ।

विजया—दूर रहकर आकाश से ?

श्रीपाल—हां, तुम मेरे जीवन की प्रेरणा हो, स्फूर्ति हो। तुम्हारी स्मृति मेरे रक्त को गति देती है। तुम्हें पाने की इच्छा करना मेरे जीवन का जीवन है—लेकिन तुम्हें पा लेना मेरे जीवन की मृत्यु है।

विजया—उधर देखते हो, श्रीपाल ! कहीं वर्षा हुई है, इसलिए चम्बल में जल बढ़ गया है। धारा के दोनों ओर चट्टानें हैं। जल को फैलने को स्थान नहीं मिल रहा। वह कितना जोर कर रहा है। कितने वेग से आगे बढ़ रहा है।

श्रीपाल—हमारे-तुम्हारे बीच में इससे भी बड़ी चट्टानें हैं, विजया !

विजया—कौन-सी चट्टानें ?

श्रीपाल—तुम्हारा भाई जयदेव ! उसे अपने कुल का अभिमान है। मैं एक साधारण किसान का पुत्र हूं और तुम भारत की सुप्रसिद्ध मालव जाति की कन्या हो। आकाश की तारिका की ओर पृथ्वी पर पैर रखकर चलने वाला प्राणी कैसे हाथ बढ़ा सकता है ?

विजया—यदि यह तारिका आकाश से उतर कर तुम्हारी गोद में आ गिरे तो ?

श्रीपाल—मैं उसे स्वीकार नहीं करूंगा।

विजया—क्यों ?

श्रीपाल—मैं कृपा या दान नहीं चाहता।

विजया—तो चोरी करना चाहते हो, डाका डालना चाहते हो। डाका डालना तो कायरता नहीं है?

श्रीपाल—मैं इतना छोटा नहीं बनना चाहता कि मुझे अपनी ही चीज की चोरी करनी पड़े।

विजया—तब तुम क्या चाहते हो?

श्रीपाल—बदला।

विजया—किससे।

श्रीपाल—तुम्हारे भाई से!

विजया अच्छा तो इसलिए तुमने शस्त्र पकड़े हैं?

श्रीपाल—जो हल पकड़ना जानता है वह शस्त्र पकड़ना भी जान सकता है।

विजया—लेकिन उसका उचित प्रयोग करना भी जान पाय तब न?

श्रीपाल—मानवता का तिरस्कार करने वालों—सृष्टि के चिरंतन भाव-प्रेम का अपमान करने वालों के विरुद्ध मेरा शस्त्र होगा। जाता हूं विजया! तुम मेरे जीवन की स्फूर्ति हो—मैं तुम्हें प्रणाम करता हूं।

[प्रणाम करता है।]

विजया—तुम जा तो रहे हो, श्रीपाल! लेकिन मुझे भय है तुम मार्ग भूल जाओगे?

श्रीपाल—तुम्हारा प्रेम मेरा मार्ग-दर्शक है।

[श्रीपाल का प्रस्थान]

विजया—[श्रीपाल की ओर देखती हुई] विक्षिप्त युवक!

[विजया कुछ क्षण स्तब्धसी खड़ी उसी ओर देखती रहती है जिस ओर श्रीपाल गया है। फिर एक लम्बी सांस लेकर शिला पर बैठ जाति है। कुछ क्षण विचार-मग्न रहकर वही गीत गाने लगती है। गीत आधा ही हो पाता है कि उसका भाई जयदेव प्रवेश करता है।

जयदेव भी गौरवर्ण, बलिष्ट शरीर, बड़ी आंखों और रोबदार चेहरे वाला नवयुवक है। सैनिक वेश-भूषा। कपड़ों से उसका सुसम्पन्न होना प्रकट होता है।

जयदेव—[विजय के कन्धे पर हाथ रखकर] विजया !

विजया—[चौंककर] ओह, भइया !

जयदेव—चौंक क्यों उठी, बहन !

विजया—मैं डर गई थी !

जयदेव—मालव-कन्या होकर डर का नाम लेती है, विजया !

विजया—मैं शस्त्र की धार से नहीं डरती, सिंह के तीक्ष्ण नखों से नहीं डरती। मैं मनुष्य के शारीरिक बल से नहीं डरती। हिंसा से मैं लड़ सकती हूं।

जयदेव—फिर डरती किस से हो, लड़ किससे नहीं सकती !

विजया—मनुष्य के प्रेम से। [दीन स्वर में] भैया !

जयदेव—[विजया के मस्तक पर हाथ रखते हुए] क्या बात है! विजया ?

विजया—मैं अपने हृदय पर विजय नहीं पा सकती हूं प्राणों में आठों पहर ज्वाला जलती है। तुम्हारा वंश-गौरव की दीवार मुझे रोक नहीं सकती। मैं विद्रोह करूंगी।

जयदेव—किससे ?

विजया—तुम्हारे अभिमान से। मेरे भाई मालव-कुल-भूषण जयदेव से !

जयदेव—तुम मुझसे युद्ध करोगी ?

विजया—हां।

जयदेव—जीत सकोगी ?

विजया—अवश्य !

जयदेव—कैसे ?

विजया—अपनी बलि देकर। इस शरीर को—जिसमें ऐसा

मालव-रक्त प्रवाहित है, जो मुझे प्रेम के स्वाधीन-प्रदेश में जाने से रोकता है—चम्बल के उद्दाम प्रवाह में प्रवाहित करके।

जयदेव—बहन, तुझे हो क्या गया है?

विजया—तुम तो सब जानते हो, भैया!

जयदेव—यहां श्रीपाल आया था?

विजया—हां।

जयदेव—तभी तुम इतनी चंचल हो उठी हो! विजया, तुम्हें एक काम करना पड़ेगा।

विजया—क्या?

जयदेव—मालव-भूमि को श्रीपाल का मस्तक चाहिए।

विजया—मालव-भूमि को या तुम्हें?

जयदेव—मुझे नहीं मालव-भूमि को!

विजया—लेकिन उसे तो तुमसे शत्रुता है मालव-भूमि से नहीं!

जयदेव—वह मेरे अपराध का दण्ड मालव-भूमि को देना चाहता है।

विजया—मालव-भूमि को या मालव-गण को?

जयदेव—जब विदेशी शासन हमारे देश पर होगा तब क्या कोई जाति पराधीनता से बच सकेगी?

विजया—विदेशी शासन मालव पर!

जयदेव—हां, जिन शकों ने सिंध और सौराष्ट्र पर अधिकार कर लिया है उन्हें श्रीपाल ने मालवा पर आक्रमण करने को आमंत्रित किया है।

विजया—तुम लोगों का अभिमान अपने ही देश में देश के शत्रु उत्पन्न कर रहा है। तुमने श्रीपाल का अपमान किया है और निराशा उसे शत्रु के पास खींच ले गई है।

जयदेव—जिस जाति ने सदा भारत के अंग-रक्षक बनकर आततायियों को देश में आने से रोका है, जिसने सिकन्दर महान की विश्वविजयी यूनानी सेना को हजारों प्राणों की बाजी लगा

कर वापिस लौट जाने को बाध्य किया उसे क्यों न अपने ऊपर गर्व हो ? उसे अपनी सैनिकता एवं बल-विक्रम पर अभिमान क्यों न हो ?

विजया—किन्तु जो जाति सैनिक नहीं है, क्या वह मनुष्य ही नहीं है ? कार्य-विभाजन नीच-ऊंच की दीवारें क्यों खड़ी करे ?

जयदेव—यह इन बातों पर विचार करने का समय नहीं है।

विजया—एक श्रीपाल का मस्तक लेकर देश की रक्षा नहीं कर सकोगे ?

जयदेव—तू श्रीपाल और देश दो में से किसे चुनेगी ?

विजया—तुम देश और मानवता दोनों में से किसे चुनोगे ?

जयदेव—पराधीनता मानवता का सबसे बड़ा पतन है !

विजया—और प्रेम ?

जयदेव—जो प्रेम देश की हत्या करे उसका गला घोंटना ही होगा ! श्रीपाल मालवा के मार्गों, नदी-पर्वतों से परिचित है। शक-सैन्य संख्या में हमसे अधिक है। उनके पास अपार अश्वारोहिणी दल है, अस्त्र-शस्त्र भी अपरिमित है। यदि उन्हें इस देश की भूमि से परिचित व्यक्ति मिल जाय तो परिणाम हमारे लिए भयंकर है। सोचो विजया, उस समय हमारे देश का क्या होगा ?

विजया—तुम मेरी हत्या कर दो भैया !

जयदेव—तो तुम देश के महत्व को नहीं समझीं। तुम्हारे पिता तुम्हारे दादा और तुम्हारी न जाने कितनी पीढ़ियों ने इस भूमि की रक्षा में अपना रक्त सींचा है, बहन ! कितनी बहनों ने अपने भाइयों को रणभूमि में विसर्जित किया है—कितनी सुन्दरियों ने यौवन के प्रभात काल में पतियों को स्वर्ग का मार्ग दिखाया है—यह एक विजया या एक श्रीपाल का प्रश्न नहीं है यह देश का प्रश्न है। बोल बहन, तू क्या कहती है ?

[विजया चुप रहती है]

जयदेव—तू सोचना चाहती है, तो सोच ! तू मालव-कन्या है.

विजया ! मैं अभी आता हूं ।

[जयदेव का प्रस्थान । विजया हतबुद्धि सी खड़ी रहती है । फिर वही गीत गुनगुनाने लगती है । श्रीपाल प्रवेश करता है ।]

श्रीपाल—विजया !

विजया—अच्छा हुआ तुम आगए, नहीं तो मुझे तुम्हारे पास जाना पड़ता !

श्रीपाल—हां, मै आ गया हूं । मैंने अपना निश्चय बदल दिया है । मैं तुम्हें अपने साथ ले जाना चाहता हूं ।

विजया—लेकिन श्रीपाल, मैंने अपना निश्चय बदल डाला है ।

श्रीपाल—क्या ?

विजया—मुझे तुम्हारा मोह छोड़ना होगा ?

श्रीपाल—फिर तुम मेरे पास क्यों आना चाहती थीं !

विजया—हम बचपन में एक साथ खेले हैं । अब जीवन का अन्तिम खेल भी तुम्हारे साथ खेल लेना चाहती हूँ । बोलो खेलोगे श्रीपाल !

श्रीपाल—अवश्य, विजया !

विजया—तो लाओ, तुम्हारे बलिष्ठ हाथों को मैं अपने उत्तरीय से बांध दूं !

श्रीपाल—क्यों ?

विजया—आँख मिचौनी में आँखें बन्द करते हैं, लेकिन यह नए प्रकार का खेल है इसमें हाथ बाँधने पड़ते हैं लाओ हाथ बढ़ाओ !

[श्रीपाल हाथ बढ़ाता है, विजया उसके हाथ खूब कसकर बाँध देती है । दूसरी ओर से जयदेव का प्रवेश ।]

श्रीपाल—[जयदेव को देखे बिना ही] अब आगे ?

विजया—आगे का खेल मेरे भैया खेलेंगे । [जयदेव की ओर उंगली उठाती है ।]

श्रीपाल—विजया, तुम ऐसा छल कर सकती हो इसकी मुझे

कल्पना भी नहीं थी !

विजया—मुझे इस बात का अभिमान है कि अपने प्रियतम को मैंने देश-द्रोह से बचा लिया।

जयदेव—[श्रीपाल से] तुम मेरे अपराध का दण्ड अपनी मातृ-भूमि को देना चाहते हो।

विजया—और देश ने तुम्हारे अपराध का दण्ड मुझे देने का निश्चय किया है !

श्रीपाल—जयदेव तुम वीर हो। साहस और पुरुषार्थ के लिए प्रसिद्ध मालव-जाति के गौरव हो, तुम छल द्वारा मुझे बन्धन में बांधना पसन्द करते हो ?

जयदेव—इस समय देश के सम्मुख जीवन-मरण का प्रश्न है श्रीपाल ! उदारता के लिए अवकाश नहीं है।

विजया—[श्रीपाल से] प्रियतम, मैं अपने अपराध के लिए क्षमा चाहती हूं। [गले से हार उतार कर पहनाती हुई] यह मेरे प्रेम का अन्तिम प्रमाण है। आज हमारा स्वयंवर है। आज मालव-जाति की परम्परा के विरुद्ध कृषक-कुमार श्रीपाल को मैं वरमाला पहनाती हूं। मैं तुम्हारी हूँ और तुम्हारी ही रहूंगी।

श्रीपाल—मेरे हाथ बंधे हुए हैं, विजया ! मैं तुम्हें कुछ प्रतिदान नहीं दे सकता। अपने प्रेम का कोई प्रमाण नहीं दे सकता।

विजया—प्रेम प्रतिदान नहीं चाहता। तुम्हारे चरणों की रज मुझे मिल सकती है ? मेरे लिए यही अमूल्य निधि है।

[चरण छूती है !]

जीवनी

श्री उपेन्द्र नाथ 'अश्क' उर्दू के मंजे और सिद्धहस्त कहानी-लेखक हैं। इधर कुछ वर्षों से आप हिन्दी में भी लिख रहे हैं। 'अश्क' की प्रतिभा सर्वतोमुखी है। आपने अच्छे नाटकों की भी रचना की है। आपका एकांकी 'लक्ष्मी का स्वागत' अनेक बार सफलता पूर्वक खेला गया है। आपने कुछ रेडियो प्ले भी लिखे हैं, इस अनुभव के कारण आपके नाटकों का अभिनय गुण बढ़ता ही जायगा।

× × ×

'लक्ष्मी का स्वागत' विषाद का गहरा भाव लिए हुए है। बड़ी ग्लानि और कड़वाहट इस एकांकी में है। भारतीय गृहस्थ-जीवन के प्रति यह एक तीखा व्यंग्य है। एक पत्नी की मृत्यु होते देर नहीं हुई, जब तक घर वाले दूसरी तजवीज़ करने लग गये नाटक के वायु-मंडल में निरन्तर बादलों की गड़गड़ाहट और बिजली की चमक है। भारी, छिपी शक्ति का भान इस नाटक के वायु-मंडल में होता है।

'अश्क' की लेखनी हृदय की गहराइयों तक पहुँची है।

लक्ष्मी का स्वागत

पात्र-परिचय

रौशन : एक शिक्षित युवक
सुरेन्द्र : उसका मित्र
भाषी : उसका छोटा भाई
पिता : रौशन का बाप
मा : रौशन की माता
अरुण : रौशन का बीमार बच्च

लक्ष्मी का स्वागत

उपेन्द्र नाथ 'अश्क'

स्थान—जिला जालन्धर के इलाके में मध्यम श्रेणी के एक मकान का दालान।

समय—नौ-दस बजे सुबह।

[दालान में सामने की दीवार से मेज़ लगी है, जिसके इस ओर एक पुरानी कुर्सी पड़ी है। मेज़ पर बच्चों की किताबें बिखरी पड़ी हैं। दीवार के दायें कोने में एक खिड़की है, जिस पर मामूली छींट का पर्दा लगा है बायें कोने में एक दरवाज़ा है, जो सीढ़ियों में खुलता है। दाईं दीवार में एक दरवाज़ा है जो कमरे में खुलता है; जहाँ इस वक्त रौशन का बच्चा अरुण बीमार पड़ा है।

दीवारों पर बिना फ्रेम के सस्ती तसवीरें कीलों से जड़ी हुई हैं। छत पर काग़ज का एक पुराना फ़ानूस लटक रहा है।

पर्दा उठने पर सुरेन्द्र खिड़की में से बाहर की तरफ़ देख रहा है। बाहर मूसलधार वर्षा हो रही है। वहां की साँय-साँय और मेंह के थपेड़े सुनाई देते हैं।

कुछ क्षण बाद वह खिड़की का पर्दा छोड़कर कमरे में घूमता है, फिर जाकर खिड़की के पास खड़ा हो जाता है—और पर्दा हटाकर बाहर देखता है।

दाईं ओर के कमरे में रौशनलाल दाखिल होता है।

रौशन—[दरवाजे को धीरे से बन्द करके] डाक्टर अभी नहीं आया?

सुरेन्द्र—नहीं।

रौशन—वर्षा हो रही है।

सुरेन्द्र—मूसलधार ! इन्द्र का क्रोध अभी शान्त नहीं हुआ।

रौशन—शायद ओले पड़ रहे हैं।

सुरेन्द्र—हाँ, ओले भी पड़ रहे हैं।

रौशन—भाषी पहुँच गया होगा ?

सुरेन्द्र—हां, पहुँच ही गया होगा। यह वर्षा और ओले ! बाजारों में घुटनों तक से कम पानी नहीं होगा।

रौशन—लेकिन अब तक उन्हें आ जाना चाहिए था। [स्वयं बढ़कर, खिड़की के पर्दे को हटाकर देखता है, फिर पर्दा छोड़कर वापस आ जाता है] अरुण की तबीयत गिर रही है।

सुरेन्द्र—[चुप]

रौशन—उसकी सांस जैसे हर घड़ी रुकती जा रही है, उसका गला जैसे बन्द होता जा रहा है, उसकी आंखें खुली हैं पर वह कुछ कह नहीं सकता, बेहोश-सा, असहाय सा चुपचाप बिटर-बिटर ताक रहा है। आँखें लाल और शरीर गर्म है। सुरेन्द्र, जब वह सांस लेता है तो उसे बड़ा ही कष्ट होता है। मेरा कलेजा मुंह को आ रहा है। क्या होने को है, सुरेन्द्र ?

सुरेन्द्र—हौसला करो ! अभी डाक्टर आ जायगा। देखो, दरवाज़े पर किसी ने दस्तक दी है।

[दोनों कुछ क्षण तक सुनते हैं। हवा की साँय-साँय]

रौशन—नहीं, कोई नहीं हवा है।

सुरेन्द्र—[सुनकर] यह देखो, फिर किसी ने दस्तक दी।

[रौशन बढ़कर खिड़की में देखता है, फिर वापस आ जाता है]

रौशन—सामने के मकान का दरवाज़ा खटखटाया जा रहा है।

[बेचैनी से कमरे में घूमता है। सुरेन्द्र कुर्सी से पीठ लगाये छत में हिलते हुए फ़ानूस को देख रहा है।]

—सुरेन्द्र, यह मामूली बुखार नहीं, यह गले की तकलीफ़

साधारण नहीं, मेरा तो दिल डर रहा है, कहीं अपनी मा की तरह अरुण भी तो धोखा न दे जायगा ? [गला भर आता है] तुमने उसे नहीं देखा, साँस लेने में उसे कितना कष्ट हो रहा है !

[हवा की साँय-साँय और मेंह के थपेड़े]

—यह वर्षा, यह आंधी, यह मेरे मन में हौल पैदा कर रहे हैं। कुछ अनिष्ट होने को है। प्रकृति का यह भयानक खेल, यह मौत की आवाज़ें......

[बिजली ज़ोर से कड़क उठती है। दरवाज़ा ज़रा-सा खुलता है। मा झांकती है।]

मा—रौशी, दरवाज़ा खोलो। आओ, देखो शायद डाक्टर आया है।

[दरवाजा बन्द करके चली आती है।]

रौशन—सुरेन्द्र...

[सुरेन्द्र तेज़ी से जाता है। रौशन बेचैनी से कमरे में घूमता है। सुरेन्द्र के साथ डाक्टर और भाषी प्रवेश करते हैं। भाषी के हाथ में इन्जेक्शन का सामान होता है।]

डाक्टर—क्या हाल है बच्चे का ?

[बरसाती उतार कर खूंटी पर टांगता है और रूमाल से मुंह पोंछता है।]

रौशन—आपको भाषी ने बताया होगा। मेरा तो हौसला टूट रहा है। कल सुबह उसे कुछ ज्वर हुआ और सांस में तकलीफ़ हो गई और आज तो वह बेहोश-सा पड़ा है, जैसे अन्तिम साँसों को जाने से रोक रखने का भरसक प्रयास कर रहा है।

डा०—चलो, चलकर देखता हूँ।

[सब बीमार के कमरे में चले जाते हैं। बाहर दरवाज़े के खट-खटाने की आवाज़ आती है। मा तेज़ी से प्रवेश करती है।]

मा—भाषी ! भाषी !

[बीमारी के कमरे से भाषी आता है ।]

मा—देखो भाषी, बाहर कौन दरवाज़ा खटखटा रहा है ? [आंखों में चमक आ जाती है] मेरा तो ख्याल है, वही लोग आये हैं । मैंने रसोई की खिड़की से देखा है । टपकते हुए छाते लिए और बरसातियां पहने...

भाषी—वही कौन ?

मा—वही, जो सरला के मरने पर अपनी लड़की के लिए कह रहे थे । बड़े भले आदमी हैं । सुनती हूँ, सियालकोट में उनका बड़ा काम है । इतनी वर्षा में भी...

[जोर-जोर से कुन्डी खटखटाने की निरन्तर आवाज आती है । भाषी भागकर जाता है, मा खिड़की में जा खड़ी होती है । बीमार के कमरे का दरवाज़ा खुलता है । सुरेन्द्र तेज़ी से प्रवेश करता है ।]

सुरेन्द्र—भाषी कहां है ?

मा—बाहर कोई आया है, कुन्डी खोलने गया है ।

[सुरेन्द्र फिर तेजी से वापस चला जाता है ।]

[मा एक बार पर्दा उठाकर खिड़की से झाँकती है, फिर खुशी-खुशी कमरे में घूमती है । भाषी दाख़िल होता है ।]

मा—कौन है ?

भाषी—शायद वही हैं । नीचे बिठा आया हूँ, पिता जी के पास, तुम चलो ।

मा—क्यों ?

भाषी—उनके साथ एक स्त्री भी है ।

[मा जल्दी-जल्दी चली जाती है । सुरेन्द्र कमरे का दरवाज़ा ज़रा-सा खोलकर देखता है और आवाज़ देता है—]

सुरेन्द्र—भाषी !

भाषी—हाँ ।

सुरेन्द्र—इधर आओ।

[भाषी कमरे में चला जाता है। कुछ क्षण के लिये खामोशी। केवल बाहर मेंह बरसने और हवा के थपेड़ों से किवाड़ों के खड़खड़ाने का शोर, कमरे में फ़ानूस के हिलने की सरसराहट । डाक्टर, सुरेन्द्र, रौशन और भाषी बाहर आते हैं।]

रौशान—डाक्टर साहब, अब बताइए।

डाक्टर—[अत्यधिक गम्भीरता से] बच्चे की हालत नाज़ुक है।

रौशान—बहुत नाज़ुक है ?

डाक्टर—हाँ !

रौशान—कुछ नहीं हो सकता ?

डाक्टर—परमात्मा के घर कुछ कमी नहीं, लेकिन आपने बहुत देर कर दी है। खन्नाक❀ (Diphtheria) में तत्काल डाक्टर को बुलाना चाहिए।

रौशान—हमें मालूम ही नहीं हुआ डाक्टर साहब, कल शाम को इसे बुखार हो गया, गले में भी इसने बहुत कष्ट महसूस किया। मैं डाक्टर जीवाराम के पास ले गया—वही जो हमारे बाजार में हैं—उन्होंने गले में आयरन-ग्लिसरीन पेंट कर दी और फीवर-मिक्स्चर बना दिया, बस दो बार दवा दी, इसकी हालत पहले से खराब हो गई। शाम को यह कुछ बेहोश-सा हो गया। मैं भागा-भागा आपके पास गया, पर आप मिले नहीं, तब रात को भाषी को भेजा, फिर भी आप न मिले। डाक्टर जीवाराम आये थे, पर मैं उनको दवा देने का हौसला न कर सका और फिर यह झड़ी लग गई।

[ज़रा कांपता है]

—ओले, आंधी और तूफान ! ऐसी प्रलयकारी वर्षा तो कभी न देखी थी।

❀Diphtheria—गले का संक्रामक रोग जिसमें सांस बन्द हो जाने से मृत्यु हो जाती है।

[बाहर हवा की साँय-साँय सुनाई देती है। डाक्टर सिर नीचा किये खड़ा है, रौशन उत्सुक नज़रों से उसकी ओर ताक रहा है, सुरेन्द्र मेज के एक कोने पर बैठा छत की ओर जोर-जोर से हिलते फ़ानूस को देख रहा है।]

डाक्टर—[सिर उठाता है] मैंने इंजेक्शन दे दिया है। भाषी ने जो लक्षण बताये थे, उन्हें सुनकर मैं बचाव के तौर पर इंजेक्शन का सामान और ट्यूब साथ लेता आया था और मेरा ख़याल ठीक निकला। भाषी को मेरे साथ भेज दो, मैं इसे नुस्खा लिख देता हूं, यहीं बाज़ार से दवाई बनवा लेना, मेरी जगह तो दूर है। पन्द्रह-पन्द्रह मिनट के बाद हलक़ से दवा की दो-चार बूंदें टपकाते रहना और एक घंटे में मुझे सूचित करना। यदि एक घंटे तक यह ठीक रहा तो मैं एक इंजेक्शन और कर जाऊंगा। इंजेक्शन के सिवा डिपथीरिया का दूसरा इलाज नहीं।

रौशन—डाक्टर साहब...[आवाज भर आती है।]

डाक्टर—घबराने से काम न चलेगा, सावधानी से उसकी तीमारदारी करो, शायद......

रौशन—मैं अपनी तरफ़ से कोई कसर न उठा रखूंगा। सुरेन्द्र, तुम मेरे पास रहना, देखो जाना नहीं, यह घर उस बच्चे के लिए वीराना है। यह लोग इसका जीवन नहीं चाहते, बड़ा रिश्ता पाने के मार्ग में इसे रोड़ा समझते हैं। इसकी मृत्यु चाहते हैं, सुरेन्द्र !

सुरेन्द्र—तुम क्या कह रहे हो रौशन ? उन्हें क्या यह प्रिय नहीं ? मूल से ब्याज प्यारा होता है ?

डाक्टर—क्या कह रहे हो रौशनलाल ?

रौशन—आप नहीं जानते डाक्टर साहब ! यह सब लोग हृदयहीन हैं, आपको मालूम नहीं। इधर मैं अपनी पत्नी का दाह-कर्म करके आया था, उधर ये लोग दूसरी जगह शादी के लिए शगुन लेने की सोच रहे थे।

सुरेन्द्र—यह तो दुनिया का व्यवहार है भाई !

रौशन—दुनिया का व्यवहार इतना शुष्क, इतना निर्मम, इतना क्रूर है ? मैं उससे नफ़रत करता हूं ! क्या ये लोग नहीं समझते कि यह जो मर जाती है, वह भी किसी की लड़की होती है, किसी माता-पिता के लाड़ में पली होती है, फिर उसके मरते ही सगाइयाँ लेकर दौड़ते हैं ! स्मृति-मात्र से मेरा खून उबलने लगता है !

डाक्टर—[चौंककर] देर हो रही है, मैं दवा भेजता हूँ। [भाषी से] भाषी, चलो।

[डाक्टर साहब और भाषी का प्रस्थान]

रौशन—सुरेन्द्र, क्या होने को है ? क्या अरुण भी मुझे सरला की भाँति छोड़ कर चला जायगा ? मैं तो इसका मुंह देख कर सन्तोष किये हुए था। उस जैसी सूरत, उसी जैसी भोली-भाली आंखे उसी जैसे मुस्कराते ओंठ; उसी जैसा सीधा सरल स्वभाव ! मैं इसे देखकर सरला का ग़म भूल चुका था, लेकिन अब, अब...

[हाथों से चेहरा छिपा लेता है]

सुरेन्द्र—[उसे ढकेलकर कमरे की ओर ले जाता हुआ] पागल न बनो, चलो, उसके घर में क्या कमी है ? वह चाहे तो मरते हुओं को बचा दे, मृतकों को जीवन प्रदान कर दे !

रौशन—[भर्राये गले से] मुझे उस पर कोई विश्वास नहीं रहा। उसका कोई भरोसा नहीं—क्रूर, कठिन और निर्दयी ! उसका काम सताये हुओं को और सताना है, जले हुए को और जलाना है। अपने इस जीवन में हमने किसको सताया, किसको दुःख दिया जो हम पर ये बिजलियाँ गिराई गईं, हमें इतना दुःख दिया गया !

सुरेन्द्र—दीवाने न बनो, चलो, उसके सिरहाने चलकर बैठो ! मैं देखता हूँ, भाषी क्यों नहीं आया।

[उसे दरवाज़े के अन्दर ढकेलकर मुड़ता है। दाईं ओर के दरवाज़े से मा दाख़िल होती है।]

मा—किधर चले ?

सुरेन्द्र—जरा भाभी को देखने जा रहा था ?

माँ—क्या हाल है अरुण का ?

सुरेन्द्र—उसकी हालत खराब हो रही है।

मा—हमने तो बाबा बोलना ही छोड़ दिया। ये डाक्टर जो न करें थोड़ा है। बहू के मामले में भी तो यही बात हुई थी। अच्छी भली हकीम की दवा हो रही थी, आराम आ रहा था, जिगर का बुखार ही था, दो-दो बर्ष भी रहता है; पर यह डाक्टर को लाए बिना न माना। डाक्टरों को आजकल दिक़ के बिना कुछ सूझता ही नहीं। ज़रा बुखार पुराना हुआ, ज़रा खांसी आई कि दिक़ का फतवा दे देते हैं। 'मुझे दिक़ हो गया है!'—यह सुनकर मरीज़ की आधी जान तो पहले ही निकल जाती है। हमने तो भाई इसलिए कुछ कहना-सुनना छोड़ दिया है आख़िर मैंने भी तो पाँच बच्चे पाले हैं। बीमारियां हुई, कष्ट हुए कभी डाक्टरों के पीछे भागी-भागी नहीं फिरी। क्या बताया डाक्टर ने ?

सुरेन्द्र—डिपथीरिया !

मा—वह क्या होता है ?

सुरेन्द्र—बड़ी खतरनाक बीमारी है माजी ! अच्छा-भला आदमी दो चार दिन के अन्दर खत्म हो जाता है।

मा—[कांपकर] राम-राम, तुम लोगों ने क्या कुछ-का-कुछ बना डाला। उसे ज़रा ज्वर हो गया, छाती जम गई, बस मैं घुट्टी दे देती तो ठीक हो जाता, लेकिन मुझे कोई हाथ लगाने दे तब न ! हमें तो वह कहता है, बच्चे से प्यार ही नहीं।

सुरेन्द्र—नहीं-नहीं, वह कैसे हो सकता है। आपसे अधिक वह किसे प्यारा होगा ?

[चलने को उद्यत होता है]

मा—सुनो !

[सुरेन्द्र रुक जाता है।]

मा—मैं तुमसे बात करने आई थी, तुम उसके मित्र हो, उसे समझा सकते हो।

सुरेन्द्र—कहिए।

मा—आज वह फिर आये हैं।

सुरेन्द्र—वे कौन ?

मा—सियालकोट के एक व्यापारी हैं। जब सरला का चौथा हुआ था तो उस दिन रौशी के लिए अपनी लड़की का शगुन लेकर आये थे। पर उसे न जाने क्या हो गया है, किसी की सुनता ही नहीं, सामने ही न आया। हारकर बेचारे चले गये। रौशी के पिता ने उन्हें एक महीने बाद आने को कहा था, सो पूरे एक महीने बाद वे आये हैं।

सुरेन्द्र—माजी...

मा—तुम जानते हो बच्चा, दुनिया-जहान का यह क़ायदा ही है। गिरे हुए मकान की नींव पर ही दूसरा मकान खड़ा होता है। रामप्रताप को ही देख लो, अभी दाह-कर्म संस्कार के बाद नहाकर साफ़ा भी न निचोड़ा था कि नकोदर वालों ने शगुन दे दिया, एक महीने के बाद विवाह भी हो गया। और अब तो सुनते हैं, एक बच्चा भी होने वाला है।

सुरेन्द्र—माजी, रामप्रताप और रौशन में कुछ अन्तर है।

मा—यही कि वह मात-पिता का आज्ञाकारी है, और यह पढ़-लिखकर मा-बाप की अवज्ञा करना सीख गया है। बेटा, अभी तो चार नाते आते हैं, फिर देर हो गई तो इधर कोई मुंह भी न करेगा। लोग सौ बातें बनायेंगे, सौ-सौ लांछन लगायेंगे और फिर ऐसा कौन क्वारा है...

सुरेन्द्र—तुम्हारा रौशन बिन-ब्याहा नहीं रहेगा, इसका मैं यकीन

दिलाता हूँ।

मा—यही ठीक है, पर अब यह शरीफ़ आदमी मिलते हैं। घर अच्छा है, लड़की अच्छी है, सुशील है, सुन्दर है, सुशिक्षित है, और सबसे बढ़कर यह है कि ये लोग बड़े भले हैं। लड़की की बड़ी बहन से अभी मैंने बातें की हैं। ऐसी सलीक़े वाली है कि क्या कहूं। बोलती है तो फूल झड़ते हैं। जिसकी बड़ी बहन ऐसी है, वह स्वयं कैसे अच्छी न होगी?

सुरेन्द्र—माजी, अरुण की तबियत बहुत ख़राब है। जाकर देखो तो मालूम हो।

मा—बेटा, ये भी तो इतनी दूर से आए हैं। इस आँधी और तूफ़ान में कैसे उन्हें निराश लौटा दूँ!

सुरेन्द्र—तो आख़िर आप मुझसे क्या चाहती हैं?

मा—तुम्हारा वह मित्र है, उससे जाकर कहो कि ज़रा दो-चार मिनट जाकर उनसे बात कर ले। जो कुछ वे पूछते हों, उन्हें बता दे, इतने में लड़के के पास बैठती हूँ।

सुरेन्द्र—मुझसे यह नहीं हो सकता माजी, बच्चे की हालत ठीक नहीं; बल्कि शोचनीय है। और आप जानती हैं वह उसे कितना प्यार करता है। भाभी के बाद उसका सब ध्यान बच्चे में केन्द्रित हो गया है। वह उसे अपनी आँखों में बिठाये रखता है, स्वयं उसका मुंह-हाथ धुलाता है, स्वयं नहलाता है, स्वयं कपड़े पहनाता है और इस वक्त जब बच्चे की हालत ठीक नहीं, मैं उससे यह सब कैसे कहूं?

[बीमार के कमरे का दरवाज़ा खुलता है। रौशन दाख़िल होता है।

बाल बिखरे हुए, चेहरा उतरा हुआ, आँखें फटी-फटी सी।]

रौशन—सुरेन्द्र, तुम अभी यहीं खड़े हो? परमात्मा के लिए जल्दी जाओ! मेरी बरसाती ले जाओ, नीचे से छतरी ले जाओ, देखो

भाषी आया क्यों नहीं? अरुण तो जा रहा है, प्रतिक्षण जैसे डूब रहा है!

[सुरेन्द्र एक बार खिड़की से बाहर देखता और फिर तेज़ी से निकल जाता है। मा, रौशन के समीप जाती है।]

मा—क्या बात है, घबराये क्यों हो?

रौशन—मा, उसे डिपथीरिया हो गया है।

मा—सुरेन्द्र ने बताया है। [असन्तोष से सिर हिलाकर] तुम लोगों ने मिल-मिलाकर……

रौशन—क्या कह रही हो? तुम्हें अगर स्वयँ कुछ मालूम नहीं तो दूसरे को तो कुछ करने दो।

मा—चलो, मैं चलकर देखती हूं।

[बढ़ती है।]

रौशन—[रास्ता रोकता है] नहीं, तुम मत जाओ। उसे बेहद तकलीफ़ है, उसे साँस मुश्किल से आती है, उसका दम उखड़ रहा है, तुम कोई घुट्टी-बुट्टी की बात करोगी। तुम यहीं रहो, मैं उसे बचाने की अन्तिम कोशिश करूँगा।

[जाना चाहता है।]

मा—सुनो!

[रौशन मुड़ता है। मा असमंजस में है।]

रौशन—कहो!

मा—[चुप।]

रौशन—जल्दी-जल्दी कहो, मुझे जाना है।

मा—वे फिर आए हैं।

रौशन—वे कौन?

मा—यही सियालकोट वाले!

रौशन—[क्रोध से] उनसे कहो, जिस तरह आये हैं वैसे ही

चले जाँय।

[जाना चाहता है।]

मा—रौशी!

रौशन—मैं नहीं जानता, मैं पागल हूं या आप! क्या आप मेरी सूरत नहीं देखती? क्या आपको इस पर कुछ लिखा दिखाई नहीं देता? शादी, शादी, शादी! क्या शादी ही दुनिया में सब कुछ है! घर में बच्चा मर रहा है और तुम्हें शादी की सूझ रही है। आख़िर तुम लोगों को हो क्या गया है? वह अभी मृत्यु-शैय्या पर पड़ी थी कि तुमने मेरी साली को लेकर शादी की बात चला दी; वह मर गई, मैं अभी रो भी न पाया कि तुम शगुन लेने पर ज़ोर देने लगीं। क्या वह मेरी पत्नी न थी? क्या वह कोई फालतू चीज़ थी?

मा—शोर मत मचाओ! हम तुम्हारे फ़ायदे की बात करते हैं, रामप्रताप......

रौशन—[चीख़कर] तुम रामप्रताप को मुझसे मिलाती हो? अनपढ, अशिक्षित, गँवार! उसके दिल कहाँ है? महसूस करने का माद्दा कहाँ है? वह जानवर है!

मा—तुम्हारे पिता ने भी तो पहली पत्नी की मृत्यु के दूसरे महीने ही विवाह कर लिया था...

रौशन—वे...मा जाओ, मैं क्या कहने लगा था?

[तेज़ी से मुड़कर कमरे में चला जाता है और दरवाज़ा बन्द कर लेता है। हाथ में हुक्का लिये हुए, खँखारते-खँखारते रौशन के पिता का प्रवेश।]

पिता—क्या कहता है रौशन?

मा—वह तो बात भी नहीं सुनता, जाने बच्चे की तबीयत बहुत ख़राब है।

पिता—[खँखारकर] एक दिन में ही इतनी क्या ख़राब हो गई? मैं जानता हूँ, यह सब बहानेबाज़ी है।

[ज़ोर से आवाज़ देता है—]

—रौशी, रौशी !

[खिड़कियों पर वायु के थपेड़ों की आवाज़]

[फिर आवाज़ देता है—]

रौशी, रौशी !

[रौशन दरवाज़ा खोलकर झाँकता है। चेहरा पहले से भी उतरा हुआ है, आँखें रूँआसी-सी और निगाहों में करुणा।]

रौशन—[अत्यन्त थके स्वर से] धीरे बोलें, आप क्या शोर मचा रहे हैं ?

पिता—इधर आओ !

रौशन—मेरे पास समय नहीं ?

पिता—[चीख़कर] समय नहीं !

रौशन—धीरे बोलिए आप !

पिता—मैं कहता हूं, वे इतनी दूर से आये हैं, तुम्हें देखना चाहते हैं, तुम जाकर उनसे ज़रा एक-दो मिनट बात कर लो।

रौशन—मैं नहीं जा सकता।

पिता—नहीं जा सकता ?

रौशन—नहीं जा सकता !

पिता—तो मैं शगुन ले रहा हूं ! इस वर्षा, आँधी और तूफ़ान में मैं उन्हें अपने घर से निराश नहीं भेज सकता, घर आई लक्ष्मी को नहीं लौटा सकता। लड़की अच्छी है, सुन्दर है, घर के काम-काज में चतुर है, चार-पाँच श्रेणी तक पढ़ी है। रामायण, महाभारत बखूबी पढ़ लेती है।

[रोने की तरह रौशन हँसता है।]

रौशन—हाँ आप लक्ष्मी को न लौटाइए।

[खट से दरवाज़ा बन्द कर लेता है।]

पिता—[रौशन की माँ से] इस एक महीने में हमने कितनों को

इनकार किया है, पर इनको कैसे इनकार करें ? सियालकोट में बड़ी भारी इनकी फर्म है। मैंने महीने भर में अच्छी तरह पता लगा लिया है। हज़ारों का तो इनके यहां लेन-देन है। उन्हें कुछ बहू की बीमारी की ओर से आशंका थी। पूछते थे---उसका देहान्त किस रोग से हुआ ? सो भई मैंने तो यही कह दिया---दिक़-विक़ कुछ नहीं थी, जिगर की बीमारी थी। [गर्व से] लाख हो, रौशन जैसा कमाऊ लड़का मिल भी कैसे सकता है ? बेकारों की फौज दरकार हो तो चाहे जितनी मर्ज़ी इकट्ठी कर लो। उस दिन लाला सुन्दर-लाल अपनी लड़की के लिए कह रहे थे---कॉलेज में पढ़ती है। पर मैंने तो इन्कार कर दिया।

मा---अच्छा किया। मुझे तो आयु भर उसकी गुलामी करनी पड़ती---बच्चे को पूछते होंगे ?

पिता---हाँ, मैंने तो कह दिया---बच्चा है, पर मा की मृत्यु के बाद उसकी हालत ठीक नहीं रहती।

मा---तो आप हाँ कर दें।

पिता---हाँ, मैं तो शगुन ले लूँगा।

[चले जाते हैं। हुक्के की आवाज़ दूर होते-होते गुम हो जाती है। मा खुशी-खुशी कमरे में घूमती है, कमरे में भाषी आता है और तेज़ी से निकल जाता है।]

मा---भाषी !

भाषी---मैं डाक्टर के यहाँ जा रहा हूं !

[तेज़ी से चला जाता है। बीमार के कमरे से सुरेन्द्र निकलता है।]

सुरेन्द्र---मा जी !

मा---क्या बात है ?

सुरेन्द्र---दाने लाओ और दिये का प्रबंध करो !

मा---क्या ?...

[आँखें फाड़े उसकी ओर देखती रह जाती है। हवा की साँय-

साँय]

सुरेन्द्र—अरुण इस संसार से जा रहा है !

[फ़ानूस टूटकर धरती पर गिर पड़ता है। मा भागकर दरवाजे पर जाती है ।]

मा—रौशी, रौशी !

[दरवाज़ा अन्दर से बन्द है।]

मा—रौशी, रौशी !

रौशन—[कमरे के अन्दर से भर्राये स्वर में] क्या बात है !

मा—दरवाज़ा !

रौशन—तुम पहले लक्ष्मी का स्वागत कर लो !

मा—रौशी !

....

[बाईं ओर के दरवाजे के बाहर से खँखारने की और हुक्के की आवाज़।]

पिता—[सीढ़ियों से ही] रौशन की मा, बधाई हो !

[रौशन के पिता का प्रवेश। मा उनकी ओर मुड़ती है।]

पिता—बधाई हो मैंने शगुन ले लिया।

[कमरे का दरवाज़ा खुलता है , मृत बालक का शव लिए रौशन का प्रवेश]

रौशन—हां, नाचो, गाओ, बाजे बजाओ !

[पिता के हाथ से हुक्का गिर जाता है और मुंह खुला रह जाता है।]

पिता—मेरा बच्चा ! [वहीं बैठ जाता है।]

मा—मेरा लाल ! [रोने लगती है।]

सुरेन्द्र—माजी, जाकर दाने लाओ और दिये का प्रबन्ध करो।

पर्दा

जीवनी

श्री सद्गुरु शरण अवस्थी का एकांकी नाटककारों में एक विशेष स्थान है। इनकी अपनी एक धारणा है और इस धारणा को उन्होंने अपनी 'दो एकांकी' की भूमिका में प्रकट किया है:—"...रंगमंच का नाटकों का संबन्ध केवल आकार का संबन्ध है। नाटक को अनिवार्य रूप से अभिनय होने के जो पक्षपाती हैं, वे साहित्य रसिक न होकर केवल मनोरंजन के उपासक हैं। साहित्य के सच्चे पारखी और रंगमंच के तमाशबीन दर्शकों में बड़ा अन्तर है। साहित्य के अनेक अंगों में एकांकी नाटक भी एक अंग है। उसकी सार्थकता साहित्य-देवता की स्थापना पर अधिक है, अभिनय अनुकूलता पर उतनी नहीं।" इसी धारणा के अनुसार इनके नाटकों में गूढ़ातिगूढ़ दार्शनिक विचार और भाषा की दुरूहता मिलती है। इनके एकांकी नाटक रंगमंच के उपयुक्त न होते हुए भी 'साहित्य-देवता' के मन्दिर के अनूठे पुष्प हैं।

"बालि-बध" पौराणिक एकांकी है जिसमें आर्य संस्कृति का अभ्युदय और अनार्य संस्कृति के अस्त काल का संघर्ष है।

लेखक ने सिद्ध किया है कि राम बनवास 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के निर्माण की मूल प्रेरणा थी। "व्यक्ति का कुटुम्ब के लिऐ, कुटुम्ब का देश के लिए, देश का मानवता के लिए और मानवता का वसुधा के लिए......" उत्सर्ग ही, विश्व कल्याण की संजीवनी शक्ति है।

बालि के चरित्र का पतन अनार्य संस्कृति का पतन काल है और उसके चरित्र का उत्थान आर्य संस्कृति के विजय की पहिली किरण है।

एकांकी में दार्शनिक भावों की अभिव्यजना होते हुए भी एक मर्मस्पर्शी सिहरण-सी होती है।

बालि-बध

पात्र-परिचय

पुरुष पात्र

१	बालि	बानर-राज, किष्किंधा नायक
२	सुग्रीव	बालि का कनिष्ठ भ्राता
३	अंगद	बालि का पुत्र
४	हनुमान	सुग्रीव का अनुचर
५	जामवंत	ऋच्छराज, बालि का मित्र
६	मतंग	पंपा सरोवर के निकट आश्रम बनाकर रहने वाले ऋषि मतंग
७	रामचंद्र	राजा दशरथ के सबसे बड़े पुत्र
८	लक्ष्मण	रामचंद्र के छोटे भाई

स्त्री पात्र

६	तारा	बानर राज बालि की पत्नी

बालि-बध

पहला दृश्य

[पदाघातों से बनी हुई एक छोटी सो पगडंडी है। सब ओर झाड़ियां प्रसरित हैं। नितांत अव्यवस्था के साथ वनस्पति संसार कहीं विरल और कहीं घना दिखाई पड़ता है। इस उपमार्ग की टेढ़ी-मेढ़ी गति के उपकूल वाले स्वयंरुहो के नैसर्गिक प्रसार और आकस्मिक अंगड़ाइयों से जो कोमल वृंत यात्रियों के चरण चुंबन के लिए इस नन्हीं-सी राह में अनिमंत्रित ही फिसल आते हैं प्रभंजन उन्हें झकझोर कर पुनः समेट देता है; अथवा निर्दय बटोही के चरमराते हुए जूते की चपेट में आकर रस वमन करते हुये शुष्क होने की बाट जोहने लगते हैं। सामने पंपासर नामक सुन्दर जलाशय है। एक ओर से ऋषि वेष में रामचंद्र और लक्ष्मण आ रहे हैं और दूसरी ओर से पंपासरोवर के छोर से, एक व्यक्ति सिमटा हुआ लुकता-छिपता आगे बढ़ता दिखाई देता है। रामचंद्र और लक्ष्मण की किशोरावस्था का उज्जवल कांति संपन्न विग्रह आर्य सौंदर्य की सीमा निर्धारित करता है सामने के व्यक्ति का अनावृत ऊर्ध्वभाग, मांसल शरीर और तने हुए अवयवों के भीतर से झाँकती हुई खिंची मुद्रा, मनुष्य के अनुरूप गढ़ी हुई काया, लम्बे होंठों वाला मुख स्थानीय निवासी होने की सूचना देते हैं।]

रामचंद्र—[सामने के व्यक्ति को दूर से आते हुए देख कर लक्ष्मण से]—भाई लक्ष्मण! वह देखो कोई सामने से आ रहा है। यह कोई यहीं का निवासी प्रतीत होता है। इसकी मुद्रा कैसी दीन है!

लक्ष्मण—तात ! मुझे तो दीन आकृतियों से बड़ी घृणा है। दुबका हुआ मार्जार आक्रमण की टोह में रहता है।

रामचंद्र—लक्ष्मण ! तुम हमेशा के विचार कृपण हो। देखो तो सृष्टि में अपार उदारता है। उसे समझने के लिये भी उदारता चाहिये। यह अवश्य ही किसी महान् प्रयोजन से आ रहा है।

लक्ष्मण—और इसी स्वार्थ को उदारता कहेंगे।

रामचंद्र—भाई लक्ष्मण ! पृथ्वी की अंतर्हित शक्ति 'आकर्षण' को भ्रम से प्रेम-पूर्ण बुलावा समझ कर जब कंदुक दौड़ कर उससे चिपट जाता है तो संघर्ष की ठेस से क्यों ऊपर की ओर भागता है ? इसीलिये न कि चोट से उसे कोई बचा ले। इस नैसर्गिक क्षोभ पूर्ण उड़ान में 'स्व' का अर्थ केवल इतना ही रहता है कि वह अनमिल वातावरण से हट जाय। मैं इसे कंदुक की उदार भावना का जागरण समझूंगा।

लक्ष्मण—पर क्या जागरण का अर्थ केवल इतना ही है कि बेचारा कंदुक फिर पृथ्वी पर गिरे ?

रामचंद्र—जब तक कंदुक कंदुक है वह पृथ्वी पर अवश्य गिरेगा। उछलने की शक्ति को कंदुक के गोल आकार ने बंदी बना रखा है।

[सामने का व्यक्ति आ जाता है और दोनों विभूतियों को प्रणाम करता है।]

रामचंद्र और लक्ष्मण—तुम्हारा कल्याण हो।

व्यक्ति—आप लोगों का कहाँ से पधारना हुआ।

रामचंद्र—[निश्वास लेकर]—यह एक महान् इतिहास है। कहिये हम लोग आप की कोई सेवा कर सकते हैं ?

[रामचन्द्र के चरण पकड़ कर]

व्यक्ति—लज्जित न कीजिये स्वामी ! सेवा करना तो हम लोगों का कार्य्य है। इस प्रदेश के नायक सुग्रीव की ओर से मैं आपको आमंत्रित करने आया हूं। दयापूर्वक उनका आतिथ्य स्वीकार कीजिये।

लक्ष्मण—[व्यक्ति के प्रति] यह अकारण आमंत्रण कैसा ? क्या आप हम लोगों से परिचित हैं ?

व्यक्ति—अतिथि-आतिथ्य का पाठ जो हम लोगों ने सीखा है वह परिचय को उतना महत्त्व नहीं देता। और फिर आप की गाथा तो महर्षि मतंग ने अपने मुंह से कई बार कही है। क्या आप महाराज दशरथ कुमार रामचन्द्र और लक्ष्मण नहीं हैं ?

रामचंद्र—पथिकवर ! आपका अनुमान ठीक है। मुझे ऋषि प्रवर मतंग से शीघ्र मिलना है। आर्य्य सभ्यता के सांस्कृतिक अभियान के वरण्य अग्रदूत इन महर्षियों के हम लोगों पर बड़े उपकार हैं। मैं तो इन्हीं के पद चिन्हों को देख-देख कर आगे बढ़ रहा हूँ।

व्यक्ति—आर्य्य श्रेष्ठ ! सुग्रीव का आतिथ्य ग्रहण करके महर्षि मतंग के यहां भी हम लोग चलेंगे।

लक्ष्मण—परंतु यह तो बतलाइये कि आप के नायक जनपदों को त्याग कर अरण्य-निवास क्यों कर रहे हैं। स्थान तो बड़ा रमणीय है।

व्यक्ति—[निश्वास खींच कर] यह भी एक दुखद वार्ता है। उनके ज्येष्ठ भ्राता बालि ने उनके समस्त धन धान्य का अपहरण कर और उनकी पत्नी को छीन कर घर से निकाल दिया है। सुग्रीव यहीं पर्णशाला बनाकर महर्षि मतंग की छत्र-छाया में विरति और तपस्या में अपना समय व्यतीत करते हैं।

लक्ष्मण—अच्छा तो यह तितिक्षा पत्नि-वियोग.... ।

रामचन्द्र—[बात काट कर] वत्स लक्ष्मण ! तितिक्षा प्रत्येक परिस्थिति में आदरणीय है।

[व्यक्ति से]

भाई ! तुम्हारा नाम क्या है ? सुग्रीव की आपत्ति मेरी आपत्ति है।

व्यक्ति—इस सेवक को हनुमान कहते हैं।

रामचन्द्र—अच्छा तो हमें शीघ्र अपने नायक के पास ले चलो। [हनुमान आगे-आगे चलते हैं और रामचन्द्र तथा लक्ष्मण उनके पीछे-पीछे जाते हैं।]

मध्य यवनिका अवरोहण

———

दूसरा दृश्य

[एक छोटे शैल शृंग की सपाट भूमि पर सुग्रीव आसीन हैं। पास ही चार स्थानीय निवासी बैठे हैं। एक ओर से रामचन्द्र, लक्ष्मण और हनुमान को आते देखकर सब उठ खड़े होते हैं और उनका स्वागत करते हैं। रामचन्द्र और लक्ष्मण मृग चर्म पर बैठ जाते हैं। अन्य सभी लोग उनके चारों ओर कुशासनों पर बैठते हैं। चैत की धूप घने वृक्षों के अंतरालों से छन कर कभी-कभी किसी के मुख को आलोकित कर देती है।]

हनुमान—आर्य्य शिरोमणे ! मेरा संदेह तो निश्चय में परिवर्तित हो रहा है। आप कहें तो उन आभूषणों को मंगवाऊं।

रामचन्द्र—आकार के अभाव से प्रतीक पर ही मन टिकाने की बात मानवता की बहुत पुरानी है। मैं उन आभूषणों के देखने का लोभ संवरण नहीं कर सकता चाहे वे दूसरे के ही प्रमाणित हों।

हनुमान—वह गठरी तो वैसे ही सामने रखी है।

[अपनी कोठरी के एक कोने की ओर संकेत करते हैं।]

लक्ष्मण—[हनुमान से] शीघ्रता कीजिये।

[हनुमान भीतर से लाकर चमकते हुए आभूषणों की एक पुटली सामने रख देते हैं। कंपित करों से लक्ष्मण उसे खोलते हैं। रामचन्द्र टकटकी बांधकर उसकी ओर देखते हैं। पुटली के खुलते ही वे अपना मुंह उधर से फेर लेते हैं।]

रामचंद्र-वत्स लक्ष्मण ! बस हो चुका । अब इनके देखने का साहस मुझे नहीं ।

लक्ष्मण-धैर्य रखिये, अब संदेह तो नहीं है ?

रामचंद्र-[निश्वास लेकर मुंह फेर लेते हैं ।] भाई लक्ष्मण ! कठोर मत बनो । इनके अभिज्ञान की शक्ति घूर्णित दृष्टि वाले नेत्रों को नहीं है । तुम वीर-हृदय हो । इन्हें पहिचानो ।

लक्ष्मण-तात ने ममता से युद्ध करना मुझे कब सिखलाया है ? मेरा हृदय तो बैठा जाता है ।

सुग्रीव-[रत्नाभरणों की चमक देखकर] अमावस्या की रात्रि का आरंभ था । हम लोग शैल-शृंग पर मंडलाकार बैठे थे । निकट ही एक बड़ा प्रकाशाधार आलोकित था । सहसा आकाश में एक वायुयान की घड़घड़ाहट से मिली हुई मानवीय चीत्कार ने हम लोगों को ऊर्ध्व-मुखी कर दिया । उसी क्षण अर्धावृत और अर्धानावृत रत्नाभरणों की यह पोटली अंध पटल को विदीर्ण करती हुई उल्का की भांति दीपक के पास गिरी । इसकी धमक से दीपक का प्रकाश तो बुझ गया परन्तु इसकी चमकने हम लोगों के नेत्र चकाचौंध किए थे ।

रामचंद्र—[सबकी ओर से उदासीन] हा, प्रिये सीते ! रावण के हाथों में तुम्हारी क्या दशा हुई होगी !

सुग्रीव—अब तो धैर्य्य रखना ही होगा ।

लक्ष्मण--[मुख नीचे कर लेते हैं । नेत्रों में आंसू भर कर] अपने ही आघातों से व्रणों को उत्पन्न करके फिर पीड़ा से सिसकने वाले के साथ कौन सहानुभूति करता है ? मैं तो खुल कर रो भी नहीं सकता ।

हनुमान--प्रभु ! इस सेवक को दूसरा न समझिये । दुःख को भुलाने से ही सफलता मिलेगी ।

रामचंद्र-[कुछ सम्हलकर, लज्जित मनुहार के साथ] भाई सुग्रीव ! तुम तो अपनी कथा भूल से गये ।

सुग्रीव—आर्य्य पुंगव, वही मायावी दानव वाला प्रसंग शत्रुता का कारण है। मैं शपथ पूर्वक कह सकता हूं कि मैंने किष्किंधा का राज्य कभी नहीं चाहा। मंत्रियों ने बड़े आग्रह से मुझे सिंहासन पर बिठा दिया। इसमें मेरा कोई दोष नहीं है।

लक्ष्मण—[कुछ स्मित वदन होकर] मुलाहिजे वाला मुलायम स्वभाव, चितवन की सौजन्य-पूर्ण झेंप, हृदय की सब स्वीकार वाली कोमल वृत्ति, 'नकार' और 'हंकार' से उलझी हुई संशयात्मक समस्या, जब एक पंक्ति में खड़ी होकर दूसरे के सुखकर आग्रह का स्वागत करेंगी तो वह अतिथि बन कर शासन क्यों न करे? किसी विभूति को लौटा देने के लिए काया की भूख से युद्ध करना पड़ता है। इसका अभ्यास विरलों ही को होता है।

रामचंद्र—[सुग्रीव से] फैलाये हुए आश्रित के हाथों को अंकदान देना क्षत्रिय मात्र का धर्म है। सुग्रीव! तुम तो मेरे मित्र हो। तुम्हें आपत्ति से मुक्त करना मेरा कार्य है।

सुग्रीव—मुझे भी आप दूसरा लक्ष्मण समझिये। आर्य्या सीता के अन्वेषण में मैं अपनी सारी शक्ति व्यय कर दूंगा। मुझे मित्रता की दीक्षा स्वीकार है।

हनुमान—आप लोग धन्य हैं।

रामचंद्र—परन्तु श्रीगणेश मेरी ओर से होना चाहिये। मित्र सुग्रीव! तुम्हीं कहो बालि का निधन कब किया जाय?

सुग्रीव—कदाचित आपको मेरे बड़े भाई बालि की वीरता का यथार्थ पता नहीं।

लक्ष्मण—[कुछ मुस्कराकर] बानर नायक! वीरता का माप-दंड भीतर बैठे हुए 'वीर देव' की सफलता और निर्बलता के अनुसार वैयक्तिक होता है।

रामचंद्र—[सुग्रीव से] मित्रवर! आपका अनुमान उचित है। इधर आते समय भक्त-प्रवरा शवरी ने भी मुझे बालि के विषय में

सचेत किया था। परन्तु वायुयान के शिल्पी प्रभंजन के उन्मूलित वृक्षों को नहीं गिनते और न झंझावात की व्याख्या में ही अपना समय नष्ट करते हैं।

सुग्रीव—आप मेरे मित्र अवश्य हैं परन्तु अपने मनोरम अतिथि को ऐसी भयावह परिस्थिति में कभी भी मैं ढकेल नहीं सकता। वत्स लक्ष्मण का व्यंग्य केवल वालिश्य-प्रदर्शन है।

लक्ष्मण—[सुग्रीव से] क्या आप क्षुब्ध हो गये? मैंने तो एक सिद्धांत वाक्य कहा था। आपके पौरुष में हम लोगों को कोई आशंका नहीं है। हाँ, हम लोगों को भी अपने ऊपर भरोसा है।

हनुमान—स्वामी की युक्ति भी यथार्थ ही है। बानरराज बालि के पराक्रम का उन्हें पता है। आपके प्रति कोई अनादर की भावना इसमें कदापि नहीं। अच्छा हो यदि हम लोग महर्षि मतंग से अपना मंतव्य निवेदन करके उनकी आज्ञा से आगे बढ़ें।

रामचंद्र—हनुमान का कथन बहुत ही उचित है। हम लोग शीघ्र ही महर्षि से क्यों न मिलें? [सब उठ खड़े होते हैं।]

पटाक्षेप

तीसरा दृश्य

[अत्यंत निश्शब्द भाव से एक जन-मंडली बैठी है। छोटे टीले के सम भूभाग दूर से ही धवल और स्वच्छ दिखाई देता है। महर्षि मतंग ऊँचे आसन पर विराजमान हैं। रामचन्द्र और लक्ष्मण एक ओर से और हनुमान और सुग्रीव दूसरी ओर से प्रवेश करते दिखाई देते हैं। मतंग ऋषि के दक्षिण ओर रामचन्द्र और वाम पार्श्व के निकट लक्ष्मण सुन्दर मृग चर्मासनों पर प्रणाम करके आसीन हो जाते हैं। समक्ष ही विनत भाव से अभिवादन करके सुग्रीव और हनुमान बैठ जाते हैं। एक ओर ऋक्षराज जामवंत बैठे हैं। वानर-पति बालि का

पुत्र अंगद जामवंत के पास से उठकर सुग्रीव के पीछे खड़ा हो जाता है। इस ऊँचे टीले के चारों ओर घनी झाड़ियां और लम्बे-लम्बे कदंब वृक्ष हैं। स्थूल-काय और अल्पायु सभी प्रकार के काले-काले हाथियों के यूथ इधर से उधर और उधर से इधर भ्रमण कर रहे हैं।

मतंग--[आसन पर बैठे-बैठे] प्रिय शिष्यों, आज आपके और हमारे सौभाग्य से विरागियों की समाधि के अवसान और अनुरागियों के मुक्ति फल के सदृश दो महापुरुष पधारे हैं। ये दोनों अनुपम विभूतियां मेरे दाहिने और बायें आसीन हैं। चक्रवर्ती महाराजा दशरथ के ये दोनों पुत्र आर्य्य उत्कर्ष के परम पुनीत प्रतीक हैं। जिस महान् संस्कृति का उपदेश मैं आप लोगों को इतने काल से दे रहा हूं उसके फल को यदि कहीं आपको मूर्तिमान् देखना है। तो इन दोनों सहोदरों को देखिये।

हनुमान—[हनुमान गद्‌गद् स्वर में हम सब कृतार्थ हुए।]

मतंग—आर्य्यों के महान् उद्देश्य का व्यवहार-निर्देशन इनका परमाशय है। सत्य, धर्म और सुरुचि के प्रचार में इन्हें जितनी भी बाधायें मिली हैं उन्हें ये अपने बल से दबाते चले आये हैं। उत्तुङ्ग पर्वतों का उल्लंघन किया है। श्रावण की घड़-घड़ाती हुई सरिताओं को पार किया है। भीषण हिंसक पशुओं से आकुल दंडकारण्य प्रदेशों में और भयावह जनस्थानों के प्राचीरों को निर्भय बना दिया है। निशाचरों को मार-मार कर ऋषियों मुनियों तथा शांत प्रिय बनौकसों को अभय दान दिया है।

जामवंत—धन्य हैं हम सब लोग। इस प्रदेश के उपद्रवों का भी दमन होना चाहिये।

लक्ष्मण—अवश्य, अवश्य।

मतंग—इसी परस्वार्थ में संलग्न रामचन्द्र ने लंकाधिपति राक्षस-राज रावण को अपना शत्रु बना लिया। सामने वैरशोध का जब उसका साहस न हुआ तो अनेक छल-बल करके उसने वत्स राम-

चन्द्र की परमसाध्वी पत्नी सीता का चोर की भाँति अपहरण कर लिया।

अंगद—[घृणासूचक ध्वनि में] पतन, महापतन ! शोक, महाशोक !!

मतंग—इन महानुभावों में अपार पौरुष है। फिर भी हमारा कर्त्तव्य है कि जहाँ तक हो सके इनकी सहायता करें।

जामवंत और अंगद—अवश्य, अवश्य हम लोग प्रस्तुत हैं।

लक्ष्मण—[खड़े होकर, बड़े आदर भाव से] जिस सदाशयता और वात्सल्य भाव से महर्षि ने हम लोगों का परिचय कराया है उसके लिये हम उनसे किस प्रकार उऋण हों ? यह आपकी सिखाई हुई शिष्टता है कि आभार-मुक्ति के लिये मौखिक 'धन्यवाद' को हम अलम् नहीं मानते। गुरुजनों की स्नेह-भरी दृष्टि ही बच्चों में उत्साह भर देने के लिये पर्याप्त है। आर्य्य संस्कृति का व्याख्याता ऋषि वर्ग यदि हमारा अग्रगंता न होता तो हमें कभी भी इतनी सफलता न मिलती। प्रिय सुहृदवरो ! हम लोग तो महर्षि मतंग प्रभृति तत्व-द्रष्टाओं के प्रतिबिंब मात्र हैं। बिंब का सौंदर्य ही प्रतिबिंब का विज्ञापन है। [करतल ध्वनि]

हमारी इस अनायास विपत्ति में सहायता देने के लिये महर्षि ने जो प्रेरणा की है वह भी उनके अपत्यस्नेह की उदारता है। आपने जिस खुले हृदय से उनके आदेश का स्वागत किया है वह आपकी परदुख-कातरता प्रगट करता है। हम दोनों भाई आप सब सज्जनों के बड़े कृतज्ञ हैं। परन्तु इस अनुचर लक्ष्मण के जीवित रहते हुए पूज्य-पाद तात रामचन्द्र जी को अधिक सहायता की आवश्यकता कदाचित् न पड़ेगी। इनके भुजमूलों में बल है; मुष्टिका में शक्ति तथा अंगुलियों में अभी लाघव है।

हनुमान और अंगद—[समवेत स्वर में]—क्यों नहीं ! क्यों नहीं !!

लक्ष्मण—हम लोग तो यहाँ एक दूसरे ही मंतव्य से एकत्रित हुए हैं।

मतंग—उसका भी अवसर आवेगा। वत्स हनुमान उस प्रसंग को सबके सामने प्रवेश करेंगे। [लक्ष्मण बैठ जाते हैं।]

हनुमान—[सबको प्रणाम कर] हमारे नायक सुग्रीव जिस कष्ट में अपने दिन व्यतीत कर रहे हैं वह आप लोगों से छिपा नहीं है। उनकी सम्यक सहायता के लिये आर्य्य श्रेष्ठ रामचन्द्रजी ने वचन दिया है। परन्तु छल-बल में अद्वितीय वानर-राज बालि से अपने सुकुमार अतिथि रामचन्द्र को संघर्ष करा देने में नायक को बड़ा संकोच है। ऐसी संशयात्मक परिस्थिति में वीरवर रामचन्द्र की सहायता लेना कहाँ तक उचित है, इसका निर्णय आप लोग करें। [हनुमान बैठ जाते हैं। मतंग और लक्ष्मण कुछ मुस्कराते हुए दिखाई पड़ते हैं।]

जामवंत—[खड़े होकर] वत्स सुग्रीव से मेरी कितनी सहानुभूति है यह कदाचित आप सभी लोग जानते हैं। इन्हीं का पक्ष लेकर उस दिन जो बानर राज से मैंने वाक्‌युद्ध किया तब से उनका और मेरा मनोमालिन्य चला आ रहा है। उनका पुत्र अंगद इसे भली प्रकार जानता है। परंतु मैं ऐसे प्रस्ताव का कदापि अनुमोदन नहीं कर सकता, जिसमें घरेलू झगड़े दूसरे निर्णय करें। [बैठ जाता है।]

अंगद—साधुवाद।

सुग्रीव—[हाथ जोड़कर खड़े हो जाते हैं।] अपने रुदन में व्यस्त कुररी पक्षी मेघ के नील आवरणों से बार-बार झांकने वाली सौदामिनी को कब देखता है? अपमान से रूठा हुआ मन स्वार्थ को सामने खड़ा देखकर भीतर की हिचक की कब परवाह करता है? भाई के प्रति विद्रोह करने से कोई बार-बार रोकता तो था, परन्तु अतिथि रामचन्द्र की दृष्टि में वह उलझाव है कि उससे सुलझना बड़ा कठिन है। वैसे तो मैं तात जामवंत के मत से पूर्ण सहमत हूँ। दूसरों को अपने झगड़े में घसीटना उचित नहीं। [बैठ जाता है।]

अंगद—[खड़े-खड़े] तो क्या पूज्य पिताजी से युद्ध होगा ?

रामचंद्र—[बोलने के लिए खड़ा होना चाहते हैं ।]

मतंग—वत्स रामचन्द्र ! तुम्हें खड़े होने की आवश्यकता नहीं। बैठे-बैठे अपनी बात कहो। अन्य सभ्यों से मेरी यही इच्छा है कि उन्हें जो कुछ कहना हो बैठे-बैठे कह दें।

रामचन्द्र—अशिष्टता के लिये क्षमा कीजिये। भाई सुग्रीव मुझे अपने घर का एक व्यक्ति न समझें, इसमें उनका कोई दोष नहीं। ऋक्षराज की तो आज पहली ही भेंट है। हम लोगों ने तो अभी कोई ऐसा व्यवहार नहीं किया जिससे उनकी आत्मीयता को पकड़ सकते।

लक्ष्मण—परन्तु हम लोगों ने आज तो प्रस्ताव रखा है उसकी प्रेरणा में सुग्रीव की विपत्ति को टालना ही तो है। बालि निधन में हमारा क्या स्वार्थ है ?

रामचन्द्र—ऐसा मत कहो, वत्स लक्ष्मण ! मैं इसमें अपना, तुम्हारा तथा निखिल विश्व का स्वार्थ समझता हूँ। मैं अकेले सुग्रीव पर कोई उपकार नहीं करता।

[जामवंत के प्रति] प्रिय ऋक्षराज ! आप ही कहिये कि बानर-राज बालि केवल अपने कनिष्ठ भ्राता का ही अपकारक है ? शेष विश्व का नहीं ?

जामवंत—सो तो वह सबके ही लिये धूम्रकेतु है। मैंने इस कुरीति को छोड़ने के लिये उससे कई बार कहा परन्तु वह विवश है। वह ऐहिक स्वजनों का दास है। पर फिर भी... ।

अंगद—परन्तु पूज्य तात-चरण कितने विद्वान् हैं !

हनुमान—पर आचरण कैसा है, यह तुमसे छिपा नहीं है।

रामचन्द्र—[जामवंत से] तो क्या यह बालि के लिए उपकार नहीं जो सब विचार छोड़कर इस तामस शरीर से उसका विच्छेद कर दिया जाय।

जामवंत—यह एक अनोखा प्रस्ताव है। क्या बालि इसे पसंद करेगा?

रामचन्द्र—यदि तामस से अनुराग अवशेष हो गया है। और फिर कुशल वैद्य रोगी से औषधि कब पूछता है?

सुग्रीव—पर हे द्रवण शील! मैं इस समय अपने कुटुम्ब का तहस-नहस नहीं कर सकता।

अंगद—साधु! साधु!!

रामचन्द्र—व्यक्तिवाद की संकरी कोठरी से तो आप निकल चुके हैं परन्तु कुटुम्बवाद की अंधेरी कोठरी में बन्द होने जा रहे हैं। स्वर्गीय-परिमल विहारी भ्रमर पुरीष-कीट के भ्रमण स्थान से तो मुक्त हुआ परन्तु लम्बे गंदे नाले में गिरने जा रहा है। व्यक्ति का कुटुम्ब के लिये, कुटुम्ब का देश के लिये, देश का मानवता के लिये और मानवता का वसुधा के लिये, इतने उत्सर्ग तो दुनिया में हो चुके हैं। उदार चरितों का कुटुम्ब समस्त वसुधा है। अब यदि आप और हम चाहें तो भी तो उन्नति पीछे की ओर घूमना स्वीकार न करेगी।

[जामवंत के प्रति]

क्या आप भाई होने के नाते ऐसे व्यक्ति का समर्थन करेंगे जो विश्व का अपकारक हो? क्या परोक्षरूप में अन्याय का समर्थन न हुआ?

जामवंत—मुझे, आर्य्य प्रवर! आपकी युक्ति समझ में आ रही है। हमारा अभिप्राय केवल यही है कि हम लोग स्वयं को न बालि को शासित करें? दूसरे को क्यों कष्ट दें?

रामचन्द्र—दूसरे का भाव निकाल देना 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की पहली पुकार है। युगों से भीतर बैठे भाव सरलता से बाहर थोड़े ही आ जाते हैं। मित्रवर सुग्रीव की शिथिलित भावना को मैं भ्रात-स्नेह तो नहीं कह सकता परन्तु भाई पने का उनका लोभ

इतना गहरा घुसा हुआ है कि वे बानरराज से स्वयं निपटन के लिये सर्वदा अयोग्य हैं।

जामवंत--आप कदाचित ठीक ही कह रहे हैं।

रामचन्द्र--भाई सुग्रीव! अब कहो तुम्हें कुछ कहना है?

सुग्रीव--आप से विवाद को निबाह ले जाना कोई सरल कार्य नहीं है। विश्वास कीजिये मस्तिष्क आप के समस्त निष्कर्ष ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेता है; परन्तु हृदय से यह बात नहीं हटती कि भ्रातृनिधन में योग देना समाज का एक महान पाप है।

अंगद--साधुवाद! पूज्य तात की भावना के लिये कोटिशः साधुवाद!

सुग्रीव--परन्तु तो भी हृदय के इस हठ को आप के वचनों ने झकझोर दिया।

रामचन्द्र--जिसे आप 'हठ' कहते हैं वह हृदय की बलवत्तम वृत्ति है। आज की वृत्ति अतीत कल के मस्तिष्क की देन है। मस्तिष्क सदा हृदय से आगे चलता है। समीचीन परिवर्तित विचार धारा से हृदय का सामंजस्य स्थापित रखना विरलों का काम है। इसीलिये कर्मकुशल प्राणी वृत्तियों को भीतर समेट कर विचारों के सहारे आगे बढ़ते हैं। मित्रवर सुग्रीव! मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि तुम्हारा यह 'हठ' कुटुम्बवाद के अटूट पक्ष-समर्थन का ही निष्कर्ष है।

जामवंत--मैं तो आप के विचार से पूर्ण रूप से सहमत हूँ। कदाचित विश्व का कल्याण इसी में हो।

सुग्रीव--समस्त विश्व यह कहेगा कि मैंने अपने निजी सुख के लिये ही यह सब किया।

रामचन्द्र--क्या तुम उसी संसार के सताये हुए प्राणियों में से एक नहीं हो जो बालि शासित है। फिर तुम अपने व्यक्तित्व को विराट बनाकर विश्व के व्यापकत्व को अंतर्लीन नहीं कर सकते?

यदि यह असंभव है तो अपने को इतना महत्त्व क्यों देते हो ? निदाघ के बलवान से बलवान बवंडर में उड़ते हुये तिनके का क्या योग हो सकता है ?

सुग्रीव--[रोने लगता है]

हनुमान--इस समय तो ज्ञान से काम लेना चाहिये।

अंगद--[सुग्रीव के आंसू पोंछता है।]

जामवंत--सुग्रीव का स्वभाव बड़ा कोमल है। परन्तु यह तो बतलाओ कि अतिथि देव के निर्देशित मार्ग के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ?

सुग्रीव--[निश्वास लेकर]--बालि विजय इतनी सरल बात नहीं।

मतंग--[संभाषण संकेत करते ही सब चुप हो जाते हैं।] अब अधिक विवाद की आवश्यकता नहीं है। वत्स अंगद अपने पिता बानर-राज बालि को आज ही यहां के मंतव्य से अवगत करा देंगे। यदि कल सायंकाल तक उनकी ओर से उचित संवाद न मिला तो स्वयं सुग्रीव अपने भाई को ललकार कर युद्ध करेंगे। हम सबकी शुभकामनायें और आशीष उनके साथ हैं।

चिरंजीव रामचन्द्र ! तुम छिप कर इस युद्ध का निरीक्षण करना। यदि किसी भी अवस्था में सुग्रीव का जीवन संदिग्ध जान पड़े तो तुरन्त अपने पैने बाण द्वारा बालि का निधन कर देना।

[सब समवेत स्वर में 'साधुवाद' कहते हैं, अंगद चुप-सा खड़ा रहता है।]

वीर प्रवर राम ! इन तुम्हारे नये परिचितों को तुम्हारे शौर्य में विश्वास दिलाना मेरा परम कर्त्तव्य है। यह जो समक्ष सात ताल वृक्ष एक पंक्ति में खड़े हैं उन्हें एक ही बाण में धराशायी करके अपने पराक्रम का परिचय दो।

[लक्ष्मण मुस्कराने लगते हैं। रामचन्द्र सहज स्वभाव उठ खड़े होते हैं और बाण को धनुष पर रखते हैं। सब लोग आश्चर्य चकित दृष्टि से देखते हैं। धनुष को कानों तक खींच कर अग्नि की लपट के सदृश एक शिलीमुख छोड़ देते हैं। एक क्षण में सातों वृक्ष चरमरा कर बैठ जाते हैं। दर्शकों के मुंह से सहसा निकल जाता है—
"आर्य्य रामचन्द्र की जय"।]

मध्य यवनिका अवरोहण

चौथा दृश्य

[एक सुसज्जित शयनागार में मोटी ऊंची गद्दी बिछी हुई है। एक बड़ी तकिया के सहारे वानरराज बालि बैठा है। बालि की बाईं ओर उसकी पटरानी महिषी तारा बैठी है। दाहिनी ओर से अंगद आकर पिता के चरणों के पास खड़ा हो जाता है। दूर के संकरे वातायन से सुग्रीव की पत्नी झाँक कर इन लोगों की बातें सुन रही है।

बालि की मुद्रा में मुस्कराहट, तारा के विषाद, अंगद की अधीरता और सुग्रीव-पत्नी की चिंता परिलक्षित होती है।]

तारा—प्राणनाथ! लीजिये अंगद स्वयं आ गया।

[अंगद के प्रति] बेटा अंगद! जो कुछ मुझसे कहते थे निडर होकर पिता जी से कह दो।

बालि—सुकुमारता में स्वतः झुकी हुई मृणाल नाल पर कहीं बोझीला पद्म उत्पन्न हो सकता है? अंगद तुम्हारा ही तो पुत्र है। भीरु क्यों न हो।

अंगद—पिताजी! परिस्थिति को यथेष्ठ रूप में समझने से बचना, उसकी भीषणता को कम करके देखना, क्या कोई वीरता है?

तारा—प्राणधन! वत्स अंगद की बातों पर ध्यान दीजिये।

बालि—अंगद का कोई दोष नहीं। काली पुतली के सामने

खड़े होकर देखो। सुहावनी से सुहावनी आकृति उसमें फंस कर काली ही प्रतिबिम्बित होती है। मैंने इससे कई बार कहा कि धवल लोम वाले शिथिल मतंग की मंडली में न जाया कर। वहां मेरे विरोध में प्रति दिन षड्यन्त्र हुआ करते हैं। अभी-अभी उसी दिन जामवंत क्या कह रहा था? डाँट देने पर आज तक मेरे पास नहीं आया। सुग्रीव और मुझमें मेल कराने वाला मतंग कौन होता है?

अंगद—मुझे तो केवल एक ही बात कहने को कहा था। मैं श्री चरणों में निवेदन कर चुका हूं।

बालि—[अपनी पत्नी के प्रति] मैं इस मतंग को कब का समाप्त कर देता। सन-सी दाढ़ी और रूई-सी भौंहें लोमभक्षी कृमियों के उदर में पहुँच चुकी होती। परन्तु तारा! तुम्हारे कारण यह नहीं हो पाया। मूर्ख जामवंत नहीं समझता कि यह सब हमारे साम्राज्य को हड़पने के लिये आर्य्यों के हथकंडे हैं।

अंगद—परन्तु वे ऐसा कब कहते हैं। उनकी युक्तियों में बड़ा बल है।

बालि—यही तो उनकी जीत है। सुन्दर लुभाने वाला शरीर, मधुर भाषण-पटुता ऊँची, विद्वत्ता और अकाट्य तर्क यही सब गुण तो तुम लोगों को मूर्ख बना कर उनका स्वागत करने के लिए बाध्य कर देते हैं। परन्तु तुम भूल जाते हो कि धवलता का आवरण धारण करके जब धूम देव सहसा ऊपर की ओर उठते चले जाते हैं तो हमारे मंदिर की छत उनकी थकावट मिटाने के लिए उन्हें रोक लिया करती है। परिणाम यह होता है कि मस्त छत को काली करके धुंआ महोदय अपना चिरंतन निवास बना लेते हैं। मैं इसीलिये इन लोगों से दूर भागता हूं।

तारा—प्राणनाथ! कोई मेरे हृदय में बार बार कहता है कि आर्य्य रामचन्द्र से आपका युद्ध कल्याण कर नहीं।

बालि—[तारा का हाथ अपने हाथ में लेकर]—वल्लभे ! गहन प्रेम आशंकाओं के पनपने की उर्वरा भूमि है। क्या तुम्हें मेरे बाहुबल पर विश्वास नहीं ? और यदि मैं ऐसा अपदार्थ हूँ तो तुम्हारी धवल सेज और अरुण सोहाग मुझे कब तक बन्दी बनाए रख सकते हैं ?

अंगद—रामचन्द्र अवश्य बड़े बली हैं। एक ही बाण में उन्होंने सात ताल वृक्षों को धराशायी कर दिया।

बालि—[अट्टहास करता हुआ]—हलके व्यजन की वायु भी हल्की ही होती है। इससे अधिक अंगद और कह ही क्या सकता था ? मूर्ख बालक तुम्हारे अद्वितीय वीर रामचन्द्र की पत्नी का बलात् अपहरण करने वाला राक्षस-राज रावण जिसकी कुक्ष में मृतवत् छै मास तक दबा रहा उस किष्किंधानायक बालि को क्या तूने काठ के मूक शुष्क वृक्षों का गट्ठर समझ रखा है ? कायर सुग्रीव, विरागी हनुमान, जरठ जामवंत और सन्यासी मतंग के सम्पर्क में वीरता कहाँ मिल सकती है ?

[वातायन में सुग्रीव पत्नी के नेत्र डबडबा आते हैं।]

तारा—परन्तु स्वामी के शौर्य्य में इससे क्या क्षति पहुंचती है कि वत्स सुग्रीव की वधू स्वतन्त्र कर दी जाय और भाई-भाई का स्नेह पूर्ववत् हो जाय ? वत्स अंगद का आवेदन भी तो इतना ही है।

[सुग्रीव की पत्नी की आकृति वातायन में सहसा चमक उठती है।]

बालि—सुग्रीव अपनी पत्नी को ले जा सकता है। मैंने उसे बलात् अपहरण अवश्य किया था। जब सुग्रीव प्रतिपक्षी था तो जातीय शत्रुनीति के पराक्रम प्रदर्शन ने मुझसे यह दुर्बलता भी कराई। मैं उसे राज्य का अर्धभाग भी दे सकता हूँ।

[सुग्रीव की पत्नी प्रसन्नता से खिल उठती है।]

अंगद—महाराज बालि की जय ! पिता जी की जय !

तारा—साधुवाद, प्राणेश्वर ! साधुवाद !

बालि—परन्तु खड्ग के भय से, बाणों की नोक से, किसी अपक्ष की मध्यस्थता से मैं, कुछ भी करने को प्रस्तुत नहीं। सुग्रीव जैसा है मेरा भाई है। वह मुंह में तृण दबाकर मुझे मिलेगा तो भी उसको संपदा मिल जायगी; वह युद्ध में मुझे परास्त कर लेगा तो भी उसकी निधि उसे प्राप्त हो जायगी। किसी और को इस झगड़े में पड़ने की क्या आवश्यकता है ?

[सब पूर्ववत उदास हो जाते हैं।]

अंगद—पिता जी ! मुझे मतंग ऋषि से क्या कहना होगा ?

बालि—[क्रुद्ध होकर] बालि वंश का धूमकेतु ! तुझे दूत नहीं बनना है। मेरी मृत्यु के बाद तू रामचन्द्र की वसीठा किया करना। जाकर घर बैठ। आज से मतंग के यहां मत जाना।

[अंगद उदास होकर घर चला जाता है। सुग्रीव की पत्नी उसे अपने पास बैठा लेती है। दोनों एक दूसरे के आँसू परस्पर पोंछते है।]

तारा—[बालि के पैर पकड़ कर] हृदयेश्वर, अकारण ही इस शिशु पर इतना क्रोध क्यों करते हैं ? आपकी बलवती कल्याण कामना ही हम लोगों को प्रगल्भ बना देती है।—[बालि का क्रोध कुछ शांत होता है।]—प्रिया प्रजा की रक्षा के लिए, अंगद के वात्सल्य के लिए, बानर कुल की मर्य्यादा के लिए, आदि निवासियों के अक्षुण्ण नेतृत्व के लिए और हे मेरे सर्वस्व, तारा के सोहाग के लिए इस आगत आपत्ति से आप सतर्क रहिये। [इतना कह कर तारा फूट-फूट कर रोने लगती है।]

बालि—[तारा के आंसू पोंछ कर उसे अपने अत्यन्त निकट बिठा लेता है।] प्राण प्रिये ! शंका मत करो। पूर्व दिशा जब उषा की अरुणिमा से अपनी मांग खचित करना बंद कर देगी और उसका प्रशस्त भाल बाल रवि के सिंदूर-बिंदु से सर्वदा के लिए रिक्त हो

जायगा तब तुम भी सौभाग्य-शृंगार बन्द कर देना। [मुस्कराते हुए तारा को हृदय से लगाता है।]

पटाक्षेप

पांचवां दृश्य

[बालि सुग्रीव युद्ध अभी-अभी समाप्त हुआ है। रणस्थल के छोर से लड़खड़ाता हुआ बालि प्रवेश करता है और गिर कर क्षण-भर के लिए निसंज्ञ हो जाता है। उसके मर्मस्थल में एक तीव्र बाण प्रविष्ट है। बालि की आकृति से असीम पीड़ा परिलक्षित होती है साथ ही साथ शरीर के अवयवों से क्रोध का क्षरण होता है। दूर गदा पड़ी दिखाई देती है। दूसरे छोर से दौड़कर सुग्रीव प्रवेश करता है। वह बालि के पास आकर खड़ा हो जाता है। जिस ओर सुग्रीव खड़ा है, सँज्ञालाभ करने पर उस ओर से बालि मुँह फेरे हुए है। सुग्रीव ने भी अपनी गदा दूर फेंक दी है। उसके शरीर के व्रणों से रक्तस्राव हो रहा है। शीघ्र ही सुग्रीव वाली दिशा से अंगद प्रवेश करता है और बालि के चरणों के पास घुटने टेक कर सिसकने लगता है।]

बालि—[अंगद को देखकर दर्द-भरी वाणी में]-बेटा अंगद! थोड़ा पानी

[अंगद पानी के लिए भागता है।]

[सुग्रीव से]—नीच सुग्रीव! तेरी विजय तो हुई पर स्मरण रहे कि युगों तक कुल-द्रोही और देश-द्रोही व्यक्तियों में तेरा नाम पहले लिया जायगा। जा सामने से हट जा। मेरे अन्तिम क्षणों की पवित्रता को नष्ट न कर।

[रामचन्द्र और लक्ष्मण सामने से आते हुए दिखाई देते हैं।]

सुग्रीव—तात! मैं चिर अपराधी हूं। मुझे क्षमा कीजिये।

बालि—[रामचन्द्र और लक्ष्मण को देखकर सहसा उनके सौंदर्य से एक क्षण के लिये मुग्ध-सा हो जाता है फिर रामचन्द्र के पास आ जाने पर रुष्ट होकर गम्भीर स्वर में कहने लगता है ।]—आर्य सभ्यता के प्रतिस्थापक का आदर्श आज मैंने देख लिया । बस इसी संस्कृति को आप हम लोगों पर लादना चाहते हैं ? आप ऊपर से जितने सुन्दर हैं भीतर से उतने ही छली । धवल केंचुल का आवरण सर्प की कुटिलता को कम नहीं करता ।

लक्ष्मण—मूढ़ ! तुझे अपने बल का बड़ा अभिमान था । अपने पुत्र तक को यहां आने से रोक दिया ।

बालि—[उत्तेजित होकर]—नयनाभिराम आगंतुक ! अभिमान तो अवश्य था और अब भी है । उसे तो हृदय से चिपकाये मैं तुम्हारे इस छली विश्व से साथ लिए जा रहा हूँ । समस्त ऐहिक शक्तियों द्वारा शोषित वीर के अंतिम रूप का वही तो सहारा है । पर 'मूढ़'—आर्य्यों के कोष का संभ्रांत सम्बोधन होगा ! [लक्ष्मण फिर कुछ कहना चाहते हैं पर रामचन्द्र उन्हें नेत्र से बरजते हैं ।]

रामचन्द्र—वानर राज ! यह अशिष्ट बालक अबोध है । इसकी मूर्खता के लिए आप क्षमा करें । आप का चिर अपराधी तो मैं हूं । [बालि रामचन्द्र की ओर नेत्र फेर कर देखता है । उसकी सुन्दरता से मुग्ध होकर सहसा उत्तेजित होकर कहने लगता है ।]—किसी पर आड़ से छिप कर, घातक आक्रमण करना व्याध को शोभा देता है, वीर को नहीं । क्या आर्य्य धर्म की यही व्यवहार-व्याख्या है?—[पीड़ा से बालि मुंह बनाने लगता है । अंगद जल लेकर आ जाता है और अपने जंघे पर बालि का सिर रख कर उसे पिलाता है ।]

रामचंद्र—शाखा मृग नायक ! आप को बड़ी पीड़ा हो रही है । बोलने में कष्ट हो रहा है ।

वालि—नहीं, मैं आपकी विजय कीर्ति आप के ही श्रीमुख से

सुनना चाहता हूँ !

रामचंद्र—अधिक लज्जित न करो। हे वीर शिरोमणे ! यह तो शाश्वत अपराध है। परन्तु आकस्मिक परिस्थितियों ने मुझे ऐसा करने के लिये बाध्य किया था।

बालि—वे क्या हैं ? सुन्दर युवक !

रामचंद्र—मैंने सुग्रीव से मित्रता निबाहने की शपथ खाई थी।

बालि—[कुछ मुस्कराते हुए] वह तो सुना था।

रामचंद्र—मित्र का कर्त्तव्य मित्र को प्रत्येक आपत्ति से उबारने का है। सुग्रीव तो पूर्ण रूप से मेरी शरण है। वृक्ष के अंकस्थित पक्षी को बहा देने के लिए जब मेघ नीचे उतर कर बूंदों की झड़ी बांध देता है तो अपने पत्तों की ढाल बना कर जहां तक सम्भव होता है, वृक्ष उसे बचाता है : आपका अंतिम प्रहार सुग्रीव के मर्मस्थल पर वज्र की भांति बैठने के लिये उत्तोलित हुआ था। मुझे तुरंत यही सूझ कि यदि मैं सत्वर आपको इस बाण से आविद्ध करके निष्क्रिय नहीं कर देता तो मित्र का निधन निश्चय है। बस इसी प्रेरणा से यह तीक्ष्ण नाराच छूट गया। ललकार कर सामने लड़ने की बात दबी रह गई। प्राण बचाने की आतुरता ने प्राण लेने की ओर ढकेल दिया। मित्ररक्षा की तत्परता ने विवेक को छिपाकर उंगलियों को गति सम्पन्न कर दिया। यह भाव था अथवा विवेक यह मैं समझ न पाया।

बालि—पर कहते हैं कि विपश्चित पुरुषों के भावोद्गारों से विवेक का ही अवतार रहता है।

लक्ष्मण—[उत्तेजना के साथ] पर यह दार्शनिकता अपने लिए नहीं है !

[बालि क्षोभ से मुंह झुका लेता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह मानो लक्ष्मण से बात ही नहीं करना चाहता।]

रामचंद्र—लक्ष्मण ! तुम क्या कह दिया करते हो ! मरणोन्मुख वीर के प्रति शिष्ट और उदार होना सीखो।

बालि—कांटे के मुख में शूल होती ही है चाहे वह सुवर्ण का ही क्यों न हो। मैं ने विपश्चित होने का दम कभी नहीं भरा। फिर भी जाने दीजिये इस प्रसंग को। मैं अपने अंतिम क्षणों को विद्रूप नहीं करना चाहता! हे आर्य्य प्रवर! सुग्रीव आपका मित्र तो था पर यह तो बतलाइये क्या मित्रता का कवच प्रत्येक परिस्थिति में मित्र के विग्रह पर पड़ा रहना चाहिये? क्या इससे परोक्ष रूप से, अन्याय के समर्थन की आशंका नहीं? क्या व्यक्तिवाद कुटुंब-वाद, राष्ट्र-वाद जाति-वाद की भांति ही मित्र-वाद थोथी संकीर्णता नहीं है?

रामचंद्र—नहीं, मैं ऐसी मित्रता का पोषक नहीं। मैं तो केवल सद्कार्य्य में ही मित्र का साथ देता और मित्र का साथ लेता हूं। विवेकहीन समर्थन अवश्य ही संकीर्ण स्वार्थ है।

बालि—परन्तु क्षमा कीजिये। यदि मित्र को बड़ी-बड़ी कार्य-कार्य में, परीक्षा देनी है तो यही तो हम उदासीन और शत्रु के साथ भी करते हैं। मैत्री भाव से हाथ पसारने वाले शत्रु का कोई हाथ थोड़े ही काट डालता है! फिर अंतर क्या रहा?

रामचंद्र—कदापि नहीं। जिसने हाथ पसारा वह हमारा मित्र हो चुका। फिर जबतक वह हाथ न उठाये मित्र ही है।

बालि—तो क्या आपकी मित्रता परिस्थिति विशेष के लिये अस्थायी संधि है? दिव्याकारधारी यात्री! सच कहना क्या अपनी अपहृता पत्नी को प्राप्त करने के लिए ही आपने सुग्रीव का अंचल नहीं पकड़ा? परन्तु आपने भारी भूल की।

रामचंद्र—सुहृद बानर! इसी स्वार्थ के लिए तो आप की शरण मेरे लिये अवश्य अधिक उपयोगी थी। मित्रता केवल क्षणिक संधि नहीं है। वह केवल समलक्ष्य की अद्वैत पर ही टिके, ऐसी बात नहीं है। उसके पनपने के लिये मित्रों के सर्वतोमुखी उत्सर्ग आवश्यक होते हैं। जिन व्यक्तियों के प्ररोहणों में साध्य-साधन का साम्य रहता है

उन्हीं को मित्र कहा जा सकता है। इनके प्रयास परस्पर पूरक होते हैं। कुशल मित्र आत्मनिरीक्षण द्वारा मित्रता को सींचते हैं।

बालि—पर, विज्ञवर! महान् विभूतियां तो समदर्शी हुआ करती हैं। उनके लिये तो विद्याविनय सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, स्वान और चांडाल एक रूप हैं। फिर आपने सुग्रीव में और मुझ में भेद-दृष्टि क्यों रखी है?

रामचंद्र—[कुछ क्षुब्ध होकर] परन्तु बालि! यह तो बतलाओ कि कोई भी विज्ञ से विज्ञ पहुँचा हुआ तत्वदर्शी महात्मा कभी भी विद्याविनय सम्पन्न ब्राह्मण के सामने जूठे टुकड़े फेंकता है अथवा गौ को गजपतियों की सेना के साथ युद्ध में भेजता है, अथवा हाथी को दुहता है, अथवा चांडाल से यज्ञ संस्कार कराता है? सुग्रीव के विषय में जो कुछ मैंने समझा है वह यह कि वह सद्वृत्तियों के शासन में है। [सुग्रीव ध्यान से सुनते-सुनते मस्तक झुका लेता है।] और तुम में कुवृत्तियों का बोल-बाला है।

बालि—सो कैसे?

रामचंद्र—सुग्रीव की पत्नी से पूछो।

बालि—भोले अतिथि! शत्रु-मित्र संबन्धी हम लोगों की भी कुछ युद्ध-संधि व्यवस्थाएं हैं। स्त्रियों के संबंध में भी हम लोगों की निजी परम्परा है। आर्यों के आदर्श भले ही उज्ज्वल हों पर उनके अनुसार मुझे दोषी प्रमाणित करना कहां तक न्यायोचित है?

रामचंद्र—तुम तो स्वयं विज्ञ हो वानरपति! विकासोन्मुख ज्ञान के प्रकाश में जो परम्परा को सतत सुधारता नहीं रहता वह दोष-मुक्त कदापि नहीं है। सच्चे आदर्श चिरंतन सत्य हैं। वे युग विशेष अथवा जाति विशेष की एकाधिकार सम्पत्ति नहीं।

बालि—पर जिसे निरीक्षण करने की सुविधा ही न हो वह क्या करे?

रामचंद्र—सुविधा ! यह तो ऋक्षराज जामवंत से पूछो, अपने कनिष्ठ भ्राता सुग्रीव से पूछो, निकट के पंपा सरोवर वाली ऋषि मतंग कि शिष्य मंडली से पूछो। अन्यतम वीर ! यह क्यों नहीं कहते हो कि सुविधा को शरण देने के लिये न तुम्हारे पास अवकाश था और न प्रेरणा।

बालि—स्मित भाषी नवयुवक ! मुझे संतोष है कि तुम विजित के तर्क को केवल वाचाल की मुखरता नहीं समझते। परंतु जिस स्नेह से आज तुम मुझे समझा रहे हो यह क्या पहले संभव न था ? भाई से भाई का संघर्ष कराने में तुम्हें क्या मिल गया ?

रामचंद्र—बहुत देर बाद सरलता का अंचल पकड़ने वाले विज्ञ बालि ! इस बात को एक बार समझ लेना चाहिये कि महत्ता के साधन में संसार के नातों का कोई मूल्य नहीं। प्रत्येक प्राणी अपनी एकांत सत्ता में अपने विश्व के उभार का अमोघ उपकरण है : नियति के लिए सुग्रीव का तुम्हारा भाई होना एक आकस्मिक घटना है।

परन्तु भाई बालि ! यह तो कहो कि मैंने भाई-भाई के संघर्ष को बढ़ाया अथवा अंत किया। रही मेरे पहले समझाने की बात, उस समय तुम्हारी समझ में कदापि न आता। वातुल मस्तिष्क विवेक का स्वागत कभी नहीं करता।

बालि—इसके प्रमाण ?

रामचंद्र—प्रमाण ! इसका उत्तर तुम्हारे मीठे व्यक्तित्व का खंड तिरस्कृत चिरञ्जीव अंगद अवश्य देगा, साध्वी तारा देंगी तुम्हारे विलासलोलुप अवयव देंगे और सम्प्रति तुम्हारा भरा हुआ हृदय दे रहा।

बालि—[नेत्रों में जल भर आता है।]

[तारा का प्रवेश। सिसकती हुई तारा अपने पति के सिर को गोद में रखकर वेग से क्रन्दन करने लगती है। सुग्रीव पैर दाबने लगता है। अंगद बाणों से बहते हुए रक्त को पोंछता है।]

[अपनी पत्नी तारा से अवरुद्ध कंठ से] प्रिय! दुखी मत होना। तुम्हारा पति वीरता के दंभ से भी अब और अधिक........[पीड़ा से मुंह बनाने लगता है।]

रामचंद्र—सखा-बंधु! तुम्हारे वेग से पीड़ा हो रही है। वत्स अंगद को आज्ञा दो कि लक्ष्मण के साथ जाकर किष्किंधापुरी से कोई योग्य वैद्य ले आवें। तुम शीघ्र ही अच्छे हो जाओ और पुत्र, कलत्र, भ्राता सहित अपना सुविस्तृत राज्य भोगो। मेरा काम तो पूरा हो गया।

बालि—परन्तु हे दयालु पुरुष! मेरा तो पूरा नहीं हुआ है। भोग-विलास की अब तनिक भी इच्छा नहीं। यह दुनिया तो खूब घूमी फिरी है।

[सुग्रीव से] भाई सुग्रीव! यह किष्किंधा का राज्य तुम्हें सौंपता हूं। मैं ने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया है। यदि क्षमा कर सकोगे तो मुझे संतोष होगा।

[सुग्रीव वेग से रोने लगता है और बालि के चरणों को मत्थे से लगाता है।]

सुग्रीव—[रोती हुई वाणी में] क्षमा आप कीजिये। किष्किंधापति! मेरे ही कारण आज आपकी यह दशा हुई।

बालि—इसी लिए क्षमा नहीं, तुम मेरे धन्यावाद के अधिकारी हो भाई! तुम्हारे मित्र की विजय हुई और उसकी चमकीली आंखों में मेरी युक्तियां भी चढ़ सकीं। तुम्हारा भाई भी हारा नहीं! सावधानी से फेंके हुए उस तेजस्वी के बाण ने बहुत देर तक सम्हाला। [विषय शून्य दृष्टि से]

भाई उसकी मुद्रा और मनुहार!! सुग्रीव! सामने की दुनिया घूम रही है। तुम कहां हो? तारा को सुखी रखना।

[बालि कुछ क्षणों के लिए निसंज्ञ हो जाता है। तारा, अंगद और सुग्रीव वेग से रो उठते हैं।]

रामचंद्र—[बहुत निकट आकर] बानर-राज, सम्हलने का प्रयास कीजिये। आपके अच्छे होने की व्यवस्था की जा रही है।

बालि--[सहसा सजग होकर उत्तेजना के साथ] अच्छा तो मैं हो गया। जिस महत्व को जीवन भर न समझ सका उसे आज जीवन का मूल्य देकर समझ रहा हूँ। जीवन बीत जाने के बाद उसे जीवन की नैसर्गिक गति मिली है इससे भी कौन सौकर्म पूर्ण घड़ी होगी जिसकी प्रतीक्षा में जीवित रहने का उत्तरदायित्व सँभालूँ।

हे कांतिराशि! आपके अनुपम सौंदर्य और आपकी पवित्रता की छत्र छाया, पत्नी की विजय, पुत्र की जीत, भाई की सफलता इतने सुख अब मेरी अकेली आत्मा एक साथ नहीं झेल सकती? जीवन के पूर्व पृष्ठ अपरिचित से प्रतीत हो रहे हैं। पूर्व घटनाओं की स्मृति एक अनुपम खिलखिलाहट उत्पन्न कर रही है। मस्तिष्क में सुहावने ढंग से कोई रेंग रहा है। रग-रग में ऐंठन की गुद-गुदी हो रही है। कहीं—ऊपर की ओर से अमृत की झड़ी लगी है। नेत्र मिठास को पी रहे हैं। शरीर का सारा रस ऊपर की ओर खिंचा जा रहा है। अब इस पृथ्वी पर उतरने के लिये सजगता अलसाती है झूले की पैंग उपर की ओर बढ़ती जा रही है।

अंगद! तू मेरा सदा का आज्ञाकारी रहा है। इस लौहफलक को मेरे मर्म-स्थल से शीघ्र खींच ले।

[अंगद शक्ति लगा कर बाण खींच लेता है रक्त का बड़ा स्रोत बह निकलता है। घूर्णित नेत्र होकर एक पतली चीख के साथ बालि निस्तेज हो जाता है और फिर इस लोक में नहीं चेतता। बड़ा कोहराम मचता है।]

जीवनी

वर्मा जी हिन्दी के नवयुवक कलाकार हैं। इनकी रचना में कल-पक्ष और हृदय-पक्ष दोनों का समावेश रहता है। आपकी लेखनी कल्पना और भाव व्यञ्जना में विशेष अधिकार रखती है। पात्रों के चरित्र चित्रण में आदर्शवाद का पालन करते हुए भी यथार्थ-चित्रण की अपेक्षा नहीं करते।

इन्होंने संख्या में एक आधी कहानी और दो-एक एकांकी नाटक लिखे हैं किन्तु किसी वस्तु की उत्तमता की कसौटी परिमाण नहीं गुण है। गुण के विचार से इनकी रचनाएं साहित्य संसार में आदर-णीय हैं।

'सूर्योदय' में एक सच्चे कलाकार का कला-प्रेम है। जो कला के लिए धन, वैभव और सम्मान को ठोकर मार देता है।

सम्राट और कलाकार का संघर्ष—वास्तव में कला और राजत्व शक्ति के मिथ्याभिमान का संघर्ष है। जिसमें कला की विजय और राज-शक्ति की पराजय होती है।

इन्होंने एकांकी में गंभीर दार्शनिक तत्वों को कला-मन्दिर में बड़े कलात्मक ढंग से विचित्र किया है।

सूर्योदय

पात्र-परिचय

निर्झरिणी	...	एक नर्तकी
मंजरी	...	नर्तकी की सखी
समुद्रगुप्त	...	भारत के सम्राट्
चन्द्रसेन	...	सम्राट् के सामन्त
आचार्य शशांक	...	प्रसिद्ध कलाकार
जलधर	...	आचार्य शशांक के साथी

सैनिक, प्रहरी आदि

सूर्योदय

[श्री कमलाकांत वर्मा]

प्रथम दृश्य

[निर्झरिणी का शृंगार-गृह । दुग्ध-फेन से शुभ्र स्फटिक के एक मरकत जटित आसन पर बैठी हुई निर्झरिणी वातायन में लगे चांदी के तारों की बुनावट से झिलमिलाते नीलांशुक में से छन कर आती हुई शशि-किरणों को अपने स्वर्ण-कंकणों में जड़े हुए हीरक-कणों की नोकों पर उछालती हुई अपने अन्तर की किसी सघन वेदना की कसक मानों अपने निःश्वासों और उच्छ्वासों से सारे वातावरण में बिखेर देना चाहती है। निर्झरिणी के पीछे खड़ी मञ्जरी उसकी चोटियों में जूही की कलियां गूँथती हुई मानो रजनी के अञ्चल पर तारे उगाती जा रही है। पर निर्झरिणि का उधर ध्यान ही नहीं है। उसकी आंखों के सामने है विश्व का मौन अंधकार, आंखों के भीतर है हृदय की मूक व्यथा और दोनों के बीच में है इन हीरककणों का नीरव कम्पन, जो मानो उसकी आंतरिक बेचैनी की ही बाह्य अभिव्यंजना बनकर बिखर रहा है।

रात्रि की नीलिमा और भी सघन हो गई है, चन्द्रमा के ऊपर से एक हलका धौल-साँवला अभ्र-खंड भागता चला जा रहा है, बहुत दूर पर एक कोई पत्ती न जाने क्यों रह-रह कर बोल रहा है, और तभी हवा के झोंके से वातायन का नीलांशुक फड़फड़ा उठता है और साथ ही निर्झरिणी आकाश के अनन्त के प्रसार में न जाने कहां-कहां विचरण कर अपने आपे में लौट-सी आती है।]

नि०—समझा तूने मञ्जरी ?

म०—[एकाएक निस्तब्धता भंग होने से कुछ विस्मित सी होकर] क्या ?

नि०—आर्यावर्त्तके एकातपत्र सम्राट् आर्य समुद्रगुप्त......

म०—हाँ।

नि०—लक्ष्मी और सरस्वती के वरदानों का संगम उनकी राजसभा......

म०—सही ।

नि०—और उसकी प्रधान नर्तकी के रूप में उसका एक रत्न निर्वाचित की जाने वाली हूँ मैं—निर्झरिणी !

म०—तेरा अहोभाग्य तेरे पूर्वजन्म के पुण्यों का उदय, जो तू सम्राट् समुद्रगुप्त की राज-सभा का एक रत्न बन कर...

नि०—रत्न मैं......मैं रत्न...पर मञ्जरी यह रत्न होता क्या है ?

म०—प्रकृति की कलापूर्ण उंगलियों से संवारे जा कर पत्थर के जिस टुकड़े में सौंदर्य का सागर सिमिट कर जा बैठता है उसी को कहते हैं रत्न ।

नि०—सौंदर्य का सागर...पर सौंदर्य की भी कोई परिभाषा है ।

म०—सौंदर्य वही जो बहुमूल्य हो।

नि०—पर पृथ्वी के गर्भ और सागर के तले की जिस गहराई तक मूल्य लगाने वाला पारखी नहीं पहुँच पाता, वहाँ पड़े हुए उस रत्न का मूल्य क्या है ?

म०—कुछ भी नहीं।

नि०—इसलिए महत्व सौंदर्य का नहीं मूल्य का है। रत्न इसलिए रत्न नहीं है। कि प्रकृति ने उसे वैसा बनाया है, किन्तु इसलिये कि संसार उसे वैसा समझता है । मेरा सौंदर्य, मेरी कला स्वत: महान

नहीं, उसे महत्त्व प्रदान करने के लिए सम्राट् की आँखों की आवश्यकता है। कला की महत्ता उसकी ऊँचाई नहीं, दूसरों की आँखों से उस पर बरसाया जाने वाला मूल्य है......किन्तु

म०—किन्तु यह तो संसार का नियम है कि......

नि०—कोई भी वस्तु अपने मूल्य के अनुसार ही ग्रहण की जा सकती है, यह संसार का नियम है। किन्तु इस नियम और मूल्य की पहुँच वहीं तक है जहाँ तक ग्रहण का आग्रह उसे खींचकर ले जाय......और मैं सोचती हूँ कि.........

[चांदनी सामने से खिसक कर कोने में चली गई है, आकाश नक्षत्रों से वैसा ही जगमगा उठा है, जैसे निर्झरिणी की वेणी जूही के फूलों से। सहसा एक काला मेघ चन्द्रमा को ढँक लेता है। अंधकार में हीरक कण मचल से रहे हैं। इतने में ही निर्झरिणी के हाथ पकड़ कर मंजरी उसे अपनी ओर घुमा लेती है।]

म०—क्या सोचती है तू?

नि०—जिस मदिरा को अधरों से लगा कर संसार पागल हो उठता है, संसार के अधरों तक पहुँचने के लिए स्वयं वही क्यों इतनी पागल रहा करती है। संसार रत्न को ढूंढता है उसके सौंदर्य के लिए, पर रत्न समुद्र-तल से जिसे ढूँढने निकलता है वह क्या है? मैं सोचती हूं, संसार में ग्रहण का इतना आग्रह क्यों?

[सामन्त चन्द्रसेन का प्रवेश]

चन्द्रसेन—ग्रहण का आग्रह अस्तित्व का तक़ाज़ा है। निर्झरिणी!

म०—सामन्त चन्द्रसेन!

नि०—अस्तित्व के तक़ाज़े से भी बड़ा एक तक़ाज़ा होता है सामन्त चन्द्रसेन, और वह होता है जीवन का। प्रत्येक जीवन अस्तित्व है, पर प्रत्येक अस्तित्व जीवन नहीं। अतः अस्तित्व का

तक़ाज़ा चाहे कठोर कितना भी हो, पर उतना मर्मस्पर्शी नहीं होता जितना जीवन का। और जीवन का तक़ाज़ा क्या है, तुम्हें मालूम है ?

चन्द्रसेन--पर मैं पूछता हूँ, तुम जीवन को अस्तित्व से पृथक् करके क्यों देखती हो ?

नि०—इसलिये कि प्राय: अस्तित्व का तक़ाज़ा जीवन के बलिदान की माँग बन कर आता है अस्तित्व के झाड़ झंखाड़ में जीवन फूल बन कर उगता है, पर वह उगता है इसलिए नहीं कि अपना पराग बेच-बेचकर उस झाड़ झंखाड़ को वह अपनी सार्थकता का हिसाब देता रहे, किन्तु इसलिए कि अपने उस पराग को दिशाओं में लुटाकर वह विश्व की निधि बन सके। अस्तित्व और जीवन यहीं पृथक हैं सामन्त !

च०—पर तुम यह क्यों भूल रही हो निर्झरिणी, की जीवन के फूल को उसका प्राण-रस अस्तित्व का झाड़-झंखाड़ ही पहुँचाता है। उस फूल का पराग उसके मूल की सबलता पर ही...।

नि०—निर्भर है ! सच है ! पर प्रश्न यह है कि फूल के ऊपर मूल का ऋण क्या इतना बड़ा है कि फूल का सारा यौवन मूल की मुट्ठी में गिरवी बन कर पड़ा रहे ?

च०—प्रकृति ने फूल को आकाश में खिला कर और मूल पृथ्वी में गाड़ कर यह एक अपरिवर्तनीय नियम बना दिया है कि........

नि०—कि आकाश पर शासन पृथ्वी का ही रहे। प्रकृति का ऐसा अपरिवर्तनीय नियम ? असंभव !

च०—जिसे तुम अपने वीणा-विनिन्दत कंठ के समस्त तारों की सम्पूर्ण झंकृति से असंभव ठहराना चाहती हो, वही अपनी संभाव्यता सिद्ध करने के लिए भारत-सम्राट् के आज्ञापत्र के रूप में तुम्हारे सम्मुख आज आ खड़ा हुआ है......यह लो !

म०—आज्ञा-पत्र ?

च०—हाँ, तुम आज से भारत-सम्राट् की राजसभा का एक रत्न हुई।

म०—रत्न ?........

च०—और भारतवर्ष की सर्वश्रेष्ठ नर्तकी ! आज से तुम्हें राजकीय मर्यादा प्राप्त हुई, राजकोष तुम्हारे लिए खुला रहेगा, राज-शक्ति तुम्हारी रक्षा करेगी। तुम्हारे अभिनन्दन में कोटि-कोटि मस्तक झुका करेंगे, तुम्हारी अभ्यर्थना में कोटि-कोटि कंठों से जय-ध्वनि होगी, स्वयं अपने हाथों से सम्राट् तुम्हें सम्मान करेंगे.........निर्झरिणी, इस शुभ अवसर पर मेरी हार्दिक बधाई !

[आज्ञा-पत्र देता है]

म०—निर्झरिणी !......निर्झरिणी !......[उसके गले से लग जाती है]

निर्झरिणी—[मंजरी को अपने गले से छुड़ाने की चेष्टा करती हुई] और सामन्त चन्द्रसेन ! यदि...यदि मैं इस राज-सम्मान को आदर पूर्वक अस्वीकार कर दूं तो ?

च०—तो ?......निर्झरिणी, मैं अकल्पनीय संभावनाओं की कल्पना में अपना सर दुखाना नहीं चाहता।

म०—ऐसा कदापि नहीं हो सकता। निर्झरिणी, तू क्या पगली हो गई है ?

नि०—मैं और पगली ? नहीं मंजरी, पागलपन की साधना का सौभाग्य उन्हें प्राप्त होता है, जिन का जीवन अस्तित्व का वशवर्त्ती नहीं। मुझे तो अब अपने जीवन को अस्तित्व का दिया हुआ ऋण चुकाने के लिए अपने सौंदर्य के कलश में कला की मदिरा लेकर उसे बेचने के लिए लक्ष-लक्ष आँखों के सामने खड़ा होना ही पड़ेगा। मुझे रत्न बना कर आज संसार मुझे खरीदना चाहता है और मुझ में...

मंजरी, तुम धैर्य रखो.. जीवन की इतनी परिपूर्णता नहीं है कि संसार के आँके हुए मूल्य का अपमान कर मैं अपने आप को बिकने से रोक सकूँ। मेरी अपनी ही आंखों में मैं और मेरा सब कुछ तभी तक महान है जब तक संसार उसे महान समझता है...और तुम प्रसन्न हो मंजरी, कि संसार मेरी इस लघुता को ही मेरा मूल्य बनाकर मुझे ख़रीदने जा रहा है।

म०—पर तू यह सब कह क्या रही है? मेरी तो कुछ समझ में ही नहीं आता।

नि०—फिर भी मैं कहती हूँ सामन्त चन्द्रसेन, एक बात तुम न भूलना। जिसे तुम प्रकृति का अपरिवर्तनीय नियम कहते हो, वह सचमुच इतना अपरिवर्तनीय नहीं है, जितनी तुम्हारी धारणा है। मैं भले ही उसका परिवर्तन न कर सकूं पर, मैं ऐसी शक्ति की कल्पना कर सकती हूँ जो...जो...जो...

च०—रुक क्यों गई?

नि०—यही कहने के लिए सामन्त, कि भारत-सम्राट् ने यह सम्मान प्रदान कर मेरे ऊपर जो कृपा की है; मैं उसके लिए कृतज्ञ हूँ और......

म०—और?

नि०—और उसे मैं सविनय शिरोधार्य करती हूँ। सम्राट् की और क्या आज्ञा है?

च०—पूर्णिमा को राजसभा में उपस्थित हो तुम्हें सम्राट् का उपहार ग्रहण करना होगा और उसी रात्रि को राजसभा में तुम्हारी कला का प्रथम प्रदर्शन होगा।

नि०—स्वीकार है।

च०—तो इस स्वीकृति की सूचना सम्राट् को दी जा सकती है?

नि०—अवश्य ।

च०—मुझे तुम से ऐसी ही आशा थी निर्झरिणी, बधाई !

[प्रस्थान]

नि०—मुझसे ऐसी ही आशा थी ?

म०—हाँ, और सब से अधिक मुझे । [गले से लग जाती है]

नि०—मुझ से ऐसी ही आशा थी...उन्हें, तुझे...मुझे भी, किन्तु क्या इस संसार में आशातीत कुछ भी नहीं ? आशा के क्षितिज के उस पार...[वातायन की ओर घूम जाती है । नीलांशुक में से उलझ कर आते हुए हवा के झोंके से उसकी चोटी के फूलों की पंखुड़ियां सिहर उठती हैं । चांदनी में हीरक-कण एक बार फिर झिलमिला उठते हैं । अपने आप में से निकल कर मानों फिर निर्झरिणी अनन्त में विलीन हो जाती है]

द्वितीय दृश्य

[आचार्य शशांक का आश्रम । आश्रम के द्वार पर अंगूर की लताएँ झूल रही हैं, जिनमें से होकर आती हुई प्रभात-किरणें दक्षिणी वायु की थपकियों के ताल पर मानों नर्तन कर रही हैं । एक कुशासन पर शशांक बैठे हैं, सामने वीणा है, बगल में मृदंग लिये जलधर । 'वीणा' का बजना, जान पड़ता है, अभी-अभी समाप्त हुआ है, क्योंकि आस-पास खड़े मृगशावकों की आंखों में अभी भी उन्माद छलक रहा है । शशांक की आंखें मुँदी हुई हैं, जान पड़ता है उनके कानों में गूँजती हुई संगीतलहरी छाया रूप धारण कर पलकों के नीचे नाचती फिर रही है । सहसा एक मृग-शावक उनका उत्तरीय पकड़ कर खींच लेता है और उनकी आंखें खुल जाती हैं ।]

शशांक—[मृग-शावक के मुख से अपना उत्तरीय छुड़ाते हुए]

जलधर, इस वीणा के पतले तारों पर चढ़ कर आये हुए मेरी कला के सन्देश को तुमने आज सुना ?

जलधर––जिस समय मेरे हाथों में मृदंग होता है शशांक, उस समय मैं केवल एक ही चीज़ सुनता हूं और वह...

शशांक––यह वीणा नहीं होती और शायद इसीलिए तुम अभी नहीं समझ रहे आज मैं एक कितनी महान अनुभूति से टकरा गया हूं। जलधर मेरी कला ने मुझे आज समझा दिया है कि पृथ्वी पर कलाकार ईश्वर का रचनात्मक प्रतिनिधि है और...

जलधर––और शायद यह कि तुम भी उन्हीं कलाकारों में से एक हो...ठहरो...मैं देखूँ तुम्हें ज्वर तो नहीं हो रहा है...[नाड़ी देखना चाहता है।]

शशांक––[हाथ छुड़ा कर] मैं कलाकार हूं या नहीं प्रश्न इसका नहीं है। प्रश्न यह है कि कलाकार है। क्या और आज मुझे ध्रुव विश्वास हो आया है कि ईश्वर के निर्माण किये हुए विश्व का जो पुनर्निर्माण कर सके वही कलाकार है। कला की साधना ईश्वरत्व की चरम आराधना है।

जलधर––तब तो मंदिर में बैठकर पत्थर पूजने वाले को ही सर्वश्रेष्ठ कलाकार मानना होगा क्योंकि––

शशांक––कदापि नहीं। ईश्वर ने मनुष्य की रचना की है और उत्तर में मनुष्य ने रचना की है ईश्वर के एक प्रतिद्वन्द्वी की, जो मन्दिरों और देवालयों में बैठकर नैवेद्य ग्रहण करता है और राज-सिंहासन पर बैठकर राजत्व। संसार के सारे देवी-देवते, या राजे-महाराजे ईश्वर के उसी एक प्रतिद्वन्द्वी के भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं और उनके चरणों पर चढ़ाई हुई सारी भेंट मनुष्य की अपनी उपहासास्पद दुर्बलता का ही लज्जा-जनक मूल्य है। जलधर सच पूछो तो ईश्वर के इस जघन्य प्रतिद्वन्द्वी को अपदस्थ कर मानवता को वास्तविक

ईश्वर-दर्शन के मार्ग पर खींच लाना कलाकार के जीवन का मुख्य औचित्य है।

जलधर——किन्तु यदि जीवन का ऐसा औचित्य सिद्ध करने से जीवन पर ही आ बने तो ?

शशांक——तो कला की साधना सार्थक हुई।

जलधर——ना बाबा ! तुम्हारी वीणा तुम्हें ऐसे सन्देश भले ही सुनाया करती हो, पर अपना मृदंग तो समझदार है। उसकी तो बस एक ही शिक्षा है——लयमें रहो, अर्थात् परम्परा का ध्यान रखो...

शशांक——परम्परा ! क्या है यह परम्परा ? जो आज युग-युग से मन्दिरों, राज सिंहासनों और अन्य वन्दनीय स्थानों पर बैठकर मनुष्य से उसकी अपूर्णता का कर वसूल कर रहा है, उसी की निर्धारित की हुई भावना के लिए न्यूनतम संघर्ष की रेखा ही तो ? काश मेरी कला की साधना में इतनी क्षमता होती, मेरी वीणा के तारों में इतना तनाव होता, मेरी उँगलियों में इतना स्पंदन होता कि इस परम्परा को मैं......कौन है ? [बाहर दरवाज़ा खटखटाता है] अन्दर आइए ! [सामन्त चन्द्रसेन का प्रवेश।]

शशांक——[उठकर उनका अभिवादन करते हैं] किसके स्वागत का सम्मान मुझे यह मिल रहा है।

चन्द्रसेन——मैं हूं सामन्त चन्द्रसेन।

शशांक——अहोभाग्य ! पधारिए ! [दोनों बैठ जाते हैं] क्या सेवा करूँ ?

च०——आप को यह जान कर हर्ष होगा कि मैं सम्राट् का आज्ञा पत्र लेकर आपको सूचना देने के लिए उपस्थित हुआ हूं कि आज से आप राजसभा के रत्नों में से एक निर्वाचित किये गये हैं और...

शशांक——राजसभा का रत्न मैं ? सामन्त ! क्षमा करेंगे, आप भूल तो नहीं कर रहे हैं ?

च०——भूल करने के लिये मैंने भारत के महान गायक आचार्य शशांक को कष्ट नहीं दिया है। मैं जो कह रहा हूं उसका अनुमोदन सम्राट् का आज्ञा-पत्र स्वयं करेगा [आज्ञापत्र निकालते हैं]।

श०——[रोक कर] मैं समझ गया। सम्राट् ने मेरी गायन कला से प्रसन्न हो शायद मुझे यह अवसर-प्रदान करने की कृपा की है कि मैं अपनी कला से उन्हें और उनके पार्श्ववर्तियों को और भी प्रसन्न कर सकूँ, यही तो ?

च०——दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि आप आज से राज-सभा के प्रधान गायक नियुक्त हुए हैं। आज से राजकीय साहाय्य, संरक्षण और सम्मान के आप अधिकारी होंगे। आज रात्रि को राजसभा में आप की कला के प्रदर्शन का आयोजन होगा। और वहीं सम्राट् अपने हाथों आपको रत्न निर्वाचित होने का सम्मान पत्र......

श०——सामन्त, क्या मैं यह समझने की धृष्टता कर सकता हूं कि मुझे अपनी राजसभा का रत्न निर्वाचित करने में सम्राट् का अभिप्राय मेरी कला को और साथ ही मुझे भी सम्मानित करने का है ?

च०——इस में भी कोई संदेह हो सकता है ?

श०——तब आप सम्राट् को मेरी ओर से धन्यवाद देते हुए उनसे कृपया यह कह देंगे कि अपने जीवन में सम्राट् की राजसभा का रत्न बनने से बढ़कर दूसरा अपमान शशांक कोई नहीं मानता।

च०——यह...यह मैं क्या सुन रहा हूं ?

श०——आप जो सुन रहे हैं उसके तीन कारण हैं पहला यह कि कला की साधना मेरे लिये तपस्या है और उसका प्रदर्शन किसी के मनोविनोद के लिए नहीं किया जा सकता, दूसरा यह कि सम्राट् की राजसभा तक मेरी कला चलकर पहुँचे उससे अधिक आसान मैं

यह समझता हूँ कि राजसभा ही उठकर मेरी कला के पास आवे और तीसरा यह कि, सामन्त आप क्षमा करेंगे, मेरी दृष्टि में रत्न और वेश्या दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। दोनों का महत्व और उनका मूल्य उनकी सुन्दरता है। आशा है सम्राट् इस पदवी को अस्वीकार करने की मेरी धृष्टता को क्षमा करेंगे।

च०—आचार्य, आपके इस उत्तर से मुझे आश्चर्य हो रहा है।

श०—सामन्त, मेरी भावना आपके लिए इतनी अनपेक्षित है, मुझे इसका खेद है!

च०—पर राजा का वरदान अस्वीकृति होने पर शाप से भी अधिक भयानक हो सकता है, यह आप को मालूम है?

श०—ज़रा-सी ठेस लगने से ही जो वरदान अभिशाप बन सकता है वह किसी राजा का ही हो सकता है, यह मुझे मालूम है और यह एक और महान कारण है कि मैं उसे स्वीकार न करूँ।

च०—खैर, इस राजकीय सम्मान को स्वीकार करना न करना आपके हाथ है। पर सम्राट् की आज्ञा है कि 'आज आप राज-सभा में उपस्थित हों और...

श०—पर मैंने कोई अपराध तो किया ही नहीं।

च०—तो क्या राजसभा में जो जाते हैं, सभी अपराधी ही होते हैं?

श०—बिना कोई अपराध किए राजसभा में जाना स्वयं एक अपराध है।

च०—क्षमा करेंगे, इसका अर्थ मैं नहीं समझा।

श०—उसे न समझना ही आपके लिए अधिक लाभ कर होगा सामन्त!

च०—तो फिर राजाज्ञा का पालन करने में आपको आपत्ति है?

श०—मुझे आज्ञा दे सके, ऐसा मैं एक ईश्वर के अतिरिक्त और किसी को नहीं मानता।

च०—अर्थात् आप सम्राट् के शासन के क़ायल नहीं।

श०—मैं ऐसे किसी शासन के क़ायल नहीं, जिसकी भुजाएँ लोहे की और जिह्वा अग्नि की हो।

च०—तो फिर........

श०—अपने सम्राट्की आज्ञा आपने मुझे सुना दी, अपनी आत्मा की आज्ञा मैंने आप को!

च०—किन्तु, यह राजाज्ञा का अपमान भी है और शासन के प्रति विद्रोह भी!

श०—जिस सुन्दरता से आप अपराधों का नामकरण कर सकते हैं, यदि उतनी ही सुन्दरता से मैं वे अपराध कर सकता तो मैं अपने को कलाकार समझता। पर मेरा तो अपराध केवल एक ही है और वह है बिना कोई अपराध किए राजसभा में न जाने का सत्याग्रह।

च०—सत्याग्रह और दुराग्रह की सीमान्त-रेखा बहुत ही सूक्ष्म होती है आचार्य!

श०—पर रेखा उसी को कहते भी हैं जिसकी चौड़ाई केवल कल्पनागम्य हो।

च०—फिर भी आपका सत्याग्रह मुझे दुराग्रह लगे, इसे आप असम्भव तो नहीं मानते?

श०—राजाज्ञा को पालन कराने का व्यवसाय करने वाला सत्याग्रह को समझ सके इसके अतिरिक्त मैं और कुछ भी असम्भव नहीं मानता।

च०—तो फिर मेरे कर्तव्य का अनुरोध है, क्षमा करें, कि मैं आपको बन्दी बना लूँ।

श०—यदि आप कर्तव्य का कोई अस्तित्व मानते हैं, तो उसके

अनुरोध का आप सहर्ष पालन करें।

जलधर—पर जब तक मैं जीवित हूँ तब तक...

श०—शांत जलधर, मेरे सत्याग्रह का प्रधान अस्त्र है अहिंसा, यह तुम भूल रहे हो। सामंत, आप मुझे बन्दी बनाएं, मैं तैयार हूं।

च०—पर आचार्य इसका परिणाम क्या होगा आपको मालूम है?

श०—सत्य का एक ही परिणाम होता है और वह है विजय।

च०—पर सत्य और विजय के बीच में......

श०—कितने युग लगेंगे और मुझे जन्म और मरण के कितने द्वार लाँघने पड़ेंगे, इसकी मुझे चिंता नहीं। मुझे आप बन्दी बना सकते हैं। [एकाएक जलधर आकर शशांक के गले से लग जाता है।]

जलधर—शशांक!

श०—जलधर!

जलधर—यह...यह तुम क्या कर रहे हो?

श०—मेरी कला ने मुझे जो संदेश भेजा है मैं उसी का प्रयोग करने जा रहा हूँ। मुझे ईश्वर से ही पूछना है, उसका अपना प्रतिनिधित्व अधिक कौन कर सकता है निर्माण करने वाला कलाकार या विनाश करने वाला सम्राट्......सामंत!

च०—मेरे कर्तव्य की कठोरता के लिए मुझे क्षमा करेंगे आचार्य! [ताली बजाता है, तीन सैनिकों का प्रवेश]।

श०—मनुष्य को ईश्वर से ही क्षमा मांगना शोभा देता है...... चलिए!

[पटाक्षेप]

तीसरा दृश्य

[सम्राट समुद्रगुप्त की राज-सभा। स्फटिक-निर्मित विशाल मण्डप में रत्नालंकृत स्वर्ण-सिंहासन पर सम्राट समुद्रगुप्त और अन्य आसनों पर सभासद बैठे हैं ? मण्डप के स्वर्णिम प्रदीपों के साथ पूर्णिमा की रजत किरण-माला का गंगा-जमनी आलोक सभा-भवन में जुड़े हुए मणि-माणिक्यों से टकरा कर और भी प्रखर हो उठा है और उसी आलोक-वर्षा में राशि-राशि हीरक-कणों से आच्छादित ओस की बूंदों से भीगी हुई सुकुमार लता बेलि की तरह खड़ी है नर्तकी निर्झरिणी। वीणा का मधुर-संगीत, मृदंग का जलद-गम्भीर-निर्घोष और उस में नर्तकी के पायलों की भीनी रुनझुन, जान पड़ता है स्वर की त्रिवेणी लहरा आई है। इतने ही में मानो एकाएक बिजली कौंध गई, नर्तकी के पाओं में मानो उनचास पवनों का वेग भर गया, मंडप में एक सौंदर्य-शिखा तड़िद्वेग से घूम गई और मालूम नहीं कितनी देर तक राजसभा मन्त्र-विमुग्ध सी निर्निमेष बैठी रही पर जब वह सचेत हुई तो देखा नर्तकी निर्झरिणी नतमस्तक हाथ जोड़े खड़ी—नृत्य समाप्त हो गया है। सभा में करतल-ध्वनि होती है और सम्राट अपने गले से मौक्तिक-माल निकाल कर निर्झरिणी की ओर बढ़ाते हैं। सामन्त चन्द्रसेन का प्रवेश]

स०—[हार उसे देते हुए] नर्तकी निर्झरिणी, तुम भारत की नृत्य-कला की सजीव प्रतिमा हो और मुझे गर्व है कि आज अपनी राज-सभा के रत्न के रूप में तुम्हारा सम्मान कर रहा हूँ—बधाई !
[निर्झरिणी हार लेकर सम्राट का अभिवादन करती है।]

च०—[सम्राट को अभिवादन करते हुए] सम्राट्।

स०—मित्रो, अभी तक आपने नाचती हुई बिजली का चमकना देखा, अब अमृत बरसाने वाले मेघ का गरजना सुनिए। सामन्त चन्द्रसेन, हम लोग आचार्य शशांक की प्रतीक्षा ही कर रहे थे, उन्हें

राज-सभा में सादर ले आओ।

च०—पर सम्राट् ?...

स०—क्यों ?

च०—आचार्य शशांक ने राज-सभा का रत्न बनाना अस्वीकार कर दिया। [निर्झरिणी चौंक उठती है]

स०—अस्वीकार ?

च०—हां सम्राट् !

स०—इस का अर्थ ?

च०—मुझे भय है उसका अर्थ है राजाज्ञा के प्रति आचार्य का...

स०—रुक क्यों गये ?

च०—सम्राट् शायद उसे सुनना पसन्द नहीं करेंगे।

स०—राजाज्ञा के प्रति अवज्ञा ?...पर सामन्त चन्द्रसेन, राजाज्ञा के पालन के लिए तुम आचार्य शशांक को राज-सभा में उपस्थित होने के लिए बलपूर्वक बाध्य भी तो कर सकते थे ?

च०—राजाज्ञा के उल्लंघन के अपराध में मैं आचार्य को बंदी बना कर ले आया हूं सम्राट् !

स०—उन्हें उपस्थित करो। [चन्द्रसेन एक सैनिक को संकेत करता है। सैनिक बाहर जाता है। सम्राट् निर्झरिणी की ओर देखते हैं, निर्झरिणी बादलों से आंख-मचौनी खेलते हुए पूर्ण चन्द्र की ओर। सभा में पूर्ण निस्तब्धता छा रही है, इतने में गम्भीर गति से गैरिक वस्त्र पहने आचार्य शशांक प्रवेश करते हैं। उन्हें देखकर एक बार किसी अज्ञात भावना से निर्झरिणी सिहर-सी उठती है, पर तुरन्त आंखें फेर कर वह देखने लगती है एक पतंग की ओर, जो एक जलते हुए दीपक के सामने खड़ा है, उसकी ज्वाला के साथ अपने साहस को तौलना चाहता है। शशांक धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं और शांत-मौन सभा के मध्य में आकर खड़े हो जाते हैं]

स०—आचार्य शशांक, यह मैं क्या सुन रहा हूँ ?

श०—एक कठोर सत्य, जो कानों से अधिक हृदय को लक्ष्य करके कहा गया है।

स०—और वह सत्य शायद यह है कि राजसभा का रत्न निर्वाचित होना आप अपने लिए अपमानसूचक समझते हैं।

श०—मैं उसे किसी भी कलाकार के लिये अपमानसचक समझता हूँ।

[निर्झरिणी एक बार उनकी ओर देखकर आँखें नीची कर लेती है]

स०—जानते हैं आप किससे बातें कर रहे हैं ?

श०—भारत-सम्राट् आर्य समुद्रगुप्त से ।

स०—और यह भी एक भारत-सम्राट् की राजसभा में आमन्त्रित होने का गर्व प्राप्त करने का अवसर प्रदान कर आपको और आपकी कला को कितना महत्व दिया गया था ?

श०—मैं मानता हूं कि मुझे अवसर दिया गया था कि मैं अपने आप को बेच सकूं ।

स०—संगीतकला के प्रदर्शन को क्या बिकना कहते हैं ?

श०—हाँ, यदि वह प्रदर्शन हार्दिक शांति के लिए न होकर केवल मनोविनोद के लिए हो ।

स०—शांति!...पर आपके जिस गले से शांति की यह स्रोतस्विनी बहती है, मेरी भृकुटि के एक हल्के संकेत से उसकी क्या अवस्था हो सकती है आप जानते हैं ?

श०—यदि ईश्वर मिट्टी को छू कर सोना बना देने की शक्ति रखते हैं तो सम्राट् भी सोने को छूकर मिट्टी बना देने की शक्ति रखते हैं, यह मैं जानता हूं ।

स०—आचार्य शशांक, जिसे मैंने अपनी राजसभा का रत्न बनाना

चाहा था उसे धूल में मसल देने के लिए बाध्य होने पर, सच मानिए मुझे खेद होगा।

श०—आपकी सचाई पर मुझे उतना ही विश्वास है, जितना आपको मेरी इस सचाई पर होना चाहिए कि आपकी राजसभा के विलासमय अस्तित्व की विराट् व्यर्थता को ढोने के बदले जीवन के कल्याण के लिए मैं दर-दर भटकती फिरने वाली धूल में मिल जाना अधिक श्रेयस्कर समझता हूं।

स०—पर धूल में उड़ने के लिए सूखने की आवश्यकता होती है आचार्य!

श०—सूखना तो तपस्या है सम्राट्!

स०—और तपस्या का मूल्य है मृत्यु!

श०—यह तपस्या की बहुमूल्यता है।

स०—पर तपस्या जीवन का केवल एक मार्ग है, अन्त नहीं।

श०—तपस्या वह मार्ग है जिसका प्रत्येक पग स्वयं एक अन्त होता है और जिसके अन्तिम पग तक कोई पहुँच ही नहीं सकता। तपस्या अपने आप के लिए होती है, किसी अन्त के लिए नहीं।

स०—पर अन्त आता है।

श०—तपस्या का नहीं, तपस्या करने वाले का।

स०—पर जब वह अन्त मृत्यु का द्वार बन कर आता है, तो तपस्या करने वाला कैसा भी हो, उसे झुकना ही पड़ता है।

श०—किसी द्वार को पार करने के लिए झुकना उसे सिर झुकाना नहीं है।

स०—आचार्य! आपको अपने प्राणों का भय नहीं है?

श०—प्राणों के निकलने का भय करना प्राण डालने वाले का अपमान करना है।

स०—आचार्य!

श०—सम्राट् !

स०—आप अपने जीवन से खेल रहे हैं।

श०—सारी सृष्टि ही खेल रही है।

स०—लेकिन खेल के भी नियम होते हैं।

श०—नियम सत्य होते हैं और सत्याग्रह सब से बड़ा नियम है।

स०—तो क्या आप समझते हैं, सत्य को अकेले आप ही पहचानते हैं?

श०—सत्य अकेला मेरा ही नहीं है, पर जो सत्य मेरा है उसे दूसरों के सत्य के विरोध में खड़ा करने में मुझे संकोच नहीं।

स०—राजाज्ञा का पालन होना चाहिए, यह एक महान् सत्य है।

श०—ईश्वराज्ञा राजाज्ञा से बड़ी है यह उससे भी महान् सत्य है।

स०—पर ईश्वर राजा की जिह्वा से ही बोलता है।

श०—जो ईश्वर केवल राजा की जिह्वा से ही बोलता है उसे कलाकार अपना ईश्वर नहीं मानता।

स०—आचार्य ! यह राज-द्रोह है !

श०—यह जो कुछ भी है, मेरा विश्वास है।

स०—लेकिन इसका मूल्य ?

श०—आप जो वसूल कर सकें, वह सब कुछ।

स०—तो···तो···[एकाएक निर्झरिणी उठती है और झपट कर सम्राट् के चरणों पर गिर पड़ती है।]

नि०—सम्राट् ! क्षमा···क्षमा···क्षमा···

स०—[उसे उठाते हुए] नर्तकी ! क्षमा किसे···किस बात की ?

नि०—अपराध बड़ा होता है, पर क्षमा उससे भी बड़ी हो सकती है। जो अपने सत्य के आग्रह का साहस रखता है उसे उसके सत्य की सदोषता के दण्ड के साथ उसके साहस का पुरस्कार भी मिलना चाहिए।

स०—नर्तकी ! साहस का पुरस्कार एक बार मिल सकता है पर सत्य की सदोषता का दण्ड बार बार मिलता रहेगा। तुम स्वयं आचार्य से ही पूछो वे क्षमा चाहते हैं ?

नि०—[शशांक की ओर घूमकर] आचार्य मेरी धृष्ठता को क्षमा करेंगे, आत्महत्या कोई वीरता नहीं है।

शा०—देवि, क्या किसी ऐसे भी बलिदान की आप कल्पना कर सकती हैं जो आत्महत्या न हो ?

नि०—पर समुचित बलिदान के लिए जीवन में अवसरों की कमी नहीं।

शा०—अवसर बुलाये नहीं जाते, वे स्वयं आते हैं और आने पर उन्हें लौटाया नहीं जा सकता।

नि०—लौटाया जा सकता है आचार्य ! सब कुछ लौटाया जा सकता है मृत्यु भी लौटाई जा सकती है आप स्वयं न लौटाएं, मुझे अधिकार दें, मैं···

शा०—जिस मृत्यु को मेरा विश्वास, मेरे जीवन का रस ही आमंत्रित कर रहा है उसे आप कितने दिनों तक लौटा रखेंगी। दण्ड पाकर मरना मेरे लिए क्षमा पाकर जाने से अधिक श्रेयष्कर होगा।

नि०—तो क्या यह आपका अन्तिम निश्चय है ?

शा०—यह मेरा निश्चय नहीं, मेरे सत्य का फैसला है और वह तो मेरे लिए अन्तिम हो होकर रहेगा।

नि०—तो क्या···क्या···

शा०—हां देवि! आप की इस अतिशय ममता-भावना के लिए आपको धन्यवाद देने के साथ यह कहने की भी मुझे अनुमति दें कि अपने जीवन को अपने विश्वासों की प्रयोगशाला बनाकर मैंने अब उसे इस योग्य नहीं छोड़ रखा है कि इस पर कोई अपनी ममता के एक बूंद का भी अपव्यय करे। मुझे क्षमा करें देवि !

नि०—...आह ! ...[हाथों से आंखें मूँद लेती है]

स०—सामन्त चन्द्रसेन ! नर्तकी को विश्राम-गृह में ले जाओ [चन्द्रसेन निर्झरिणी को लेकर जाता है] आचार्य, आप अपनी दण्डाज्ञा सुनने के लिए तैयार हैं ?

श०—सुनने के लिए ही नहीं उसका स्वागत करने के लिए भी।

स०—तो कल सूर्योदय से पूर्व आपको पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर से नदी में फैंक दिया जायगा। अब तो आप सन्तुष्ट हैं ?

श०—पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर से मैं अपने विश्वास की जय-घोषणा कर सकूँगा; मुझे इसका संतोष ही नहीं, उल्लास भी है ! [सम्राट् संकेत करते हैं सैनिक आचार्य की ओर देखते हैं। गम्भीर भाव से आचार्य शशांक का प्रस्थान]

स०—मैंने क्या करना चाहा था और यह क्या हो गया ! ...सोचना होगा...[प्रस्थान]

[पटाक्षेप]

चतुर्थ दृश्य

[निर्झरिणी का शयन-पक्ष आपादमस्तक कृष्णवस्त्र पहने निर्झरिणी एक स्वर्ण-दीप सम्मुख रखे कुछ लिख रही है। पीछे से मंजरी सवेग प्रवेश करती है, पर निर्झरिणी को लिखने में व्यस्त देख कर सहम जाती है। थोड़ी देर तक उसके पीछे खड़ी रह कर वह खिड़की की ओर बढ़ती है और उसके पल्ले खोल देती है। वायु का एक झोंका आता है और दीपशिखा तिलमिला उठती है। लिखना बन्द कर निर्झरिणी पीछे की ओर देखती है तो मंजरी खड़ी है।]

मं०—[उसके सम्मुख आकर] यह क्या निर्झरिणी, तू कहीं बाहर जा रही है ?

नि०—हां।

मं०—इतनी रात्रि को ?

नि०—क्यों, रात्रि क्या केवल सोने के लिए ही होती है ?

मं०—मेरा अभिप्राय है कि...

नि०—मुझे अभी तेरा अभिप्राय सुनने से अधिक आवश्यक काम करना है, अभी तू जा।

मं०—पर सखी; इतना सुने बिना तो मैं नहीं जाऊँगी कि आज राजसभा में...

नि०—हुआ क्या ? मैं रत्न बनी, मुझे मेरा मूल्य मिला और मैं चली आई। अच्छा तू जा।

मं०—नहीं, नहीं, तुझे मेरी बातों का उत्तर देना ही होगा। तूने नृत्य किया ?

नि०—हाँ।

मं०—नृत्य देखकर राजसभा चकित रह गई ?

नि०—हाँ !

मं०—फिर सम्राट् ने अपने हाथों तुझे सम्मान पत्र दिया ?

नि०—हाँ ! हाँ ! हाँ !

मं०—और तब तूने...तूने...अरी यह क्या ? तू रो रही है ?
[निर्झरिणी की आंखों की ओर देखती है]

नि०—मैंने तुझ से कह दिया न, तू अभी जा !

मं०—निर्झरिणी ? अपने मन की व्यथा तू मुझसे भी छिपायेगी ?
[उसके आंसू पोंछती है]

नि०—मंजरी खुले बाज़ार में जो बिक चुकी हो अब उसके पास छिपाने को है ही क्या ? [उसकी गोद में मुँह छिपा लेती है]

मं०—यह तेरी भ्रांत भावना है निर्झरिणी। तू भूल रही है कि भारत-सम्राट् आर्य समुद्रगुप्त की राजसभा का रत्न बन कर तू...

नि०—बन गई है एक मदिरा जिसका जीवन सबका उन्माद है।

मंजरी, मै तेरे पांव पड़ती हूँ, अब तू मुझसे इसकी चर्चा न कर।

मं०—यह तू क्या कह रही है निर्झरिणी? अच्छा यह तो बता सम्राट् तेरी कला से प्रसन्न तो हुए?

नि०—सम्राट् की प्रसन्नता यह मोतियों की माला, अप्रसन्नता मृत्यु। माला सर झुकाये रखने वाले को, मृत्यु, सर उठाये रखने वाले को! मैंने माला ग्रहण की उसने मृत्यु, मैंने अपनी पराजय का मूल्य लिया; उसने अपनी विजय का मूल्य चुका दिया, मैं जिसके हाथों बिक गई उसने उसे खरीद लिया वहां वह है और उसका मोक्ष और यहां मैं हूं और मेरा मूल्य! [गले से माला निकालकर उसे फेंक देती है]

मं०—पर यह तू बातें किसकी कर रही है?

नि०—जो मेरी आशा के क्षितिज के उस पार था, पर जिसकी पगध्वनि मैं अपनी कल्पना में निरंतर सुना करती थी।

मं०—पर वह है कौन?

नि०—जिसे मूल्य की लम्बी से लम्बी रेखा नहीं बांध सकती।

मं०—मैं पूछती हूँ, वह है क्या?

नि—जो कि मैं होना चाहती थी, हो न पाई।

मं०—पर उसका नाम क्या है? [चन्द्रसेन का प्रवेश]

च०—आचार्य शशांक।

नि०—यह नाम तो उसके शरीर का है सामन्त। उसकी आत्मा का नाम है—कलाकार!

च०—'कलाकार' की जितनी अच्छी व्याख्या तुम कर सकती हो उतनी कर सकना मेरे लिए तो सम्भव नहीं है नर्तकी निर्झरिणी, पर इतना अनुभव करता हूँ, कि कला के लिए लोक-कल्याण कर सकने का सबसे प्रशस्त मार्ग है राज-शक्ति का संरक्षण प्राप्त करना, और वह संरक्षण जब स्वयं किसी के द्वार पर आया हो, तो उसे ठुकराना कला के अस्तित्व पर कुठाराघात करना है।

नि०—सामन्त, जिस दृष्टिकोण से तुम कला को देखते हो, क्षमा करना, उसमें सबसे बड़ा विकार यही है कि वह केवल शरीर को स्पर्श कर पाता है, आत्मा को नहीं, केवल अस्तित्व को पहिचान सकता है जीवन को नहीं। कला की चर्चा करते समय तुम्हारा ध्यान केवल इसी पर है कि अस्तित्व के संघर्ष में उसका क्या उपयोग हो सकता है, इस पर नहीं कि अस्तित्व के संघर्ष से अवकाश प्राप्त क्षणों में मुक्त जीवन उसका क्या उपयोग कर सकता है। तुम्हारे लिए कला औषधि-सेवन है, अमृत-पान नहीं।

च०—तो तुम क्या कला का लक्ष्य लोक-कल्याण नहीं मानतीं !

नि—यदि कल्याण का अर्थ तुम मानते हो केवल भौतिक वेदनाओं से परित्राण पाना, तो नहीं। कला की साधना का केवल नकारात्मक महत्व नहीं है, वह मुख्यतः स्वीकारात्मक है। कला को किसी कल्याण का साधन बन कर नहीं जीना है इस लिए कि वह स्वयं कल्याणरूपिणी है, उसे किसी लक्ष्य का मार्ग बनकर नहीं रहना है, क्योंकि वह स्वयं लक्ष्यस्वरूप है।

च०—पर कला को यह जो रूप तुम दे रही हो निर्झरिणी वास्तविकता से उसकी कुछ भी एकाकारता हो सकती है या नहीं, मुझे इसमें सन्देह है।

नि०—रुग्णावस्था में सँसार की सारी वास्तविकता औषधि के कुछ बूँदों में ही सिमट कर आ बैठती है, पर इससे न तो औषधि मनुष्य का स्थायी भोजन बन सकती है, न रुग्णावस्था उसका स्थायी जीवन। रोगिणी मानवता यदि आज कला का स्वाद न पहिचान सके तो इसमें दोष कला का नहीं है। कला अमृत है, पर उसकी मादकता को संभाल सके, ऐसा शरीर नन्दनवन की मिट्टी का ही बना हुआ हो सकता है और सामन्त ? यही है वह शरीर जिसे तुम कहते हो आचार्य शशांक !

च०—पर आचार्य शशांक को कलाकार बनने के लिए सम्राट् के

दिए हुए सम्मानपूर्ण निमन्त्रण की ऐसी तिरस्कारमय अवहेलना करना आवश्यक ही था, यह मानने के लिए मैं तैयार नहीं।

नि०—और वह इसलिए कि जिसे सम्मानपूर्ण निमन्त्रण का आवरण पिन्हा कर सम्राट् के उपहार के रूप में तुम लिए फिरते हो उसकी तह में से दूसरों की दुर्बलताओं का कितना क्रूर उपहास और राजदण्ड के पशुबल का कितना घोर दम्भ झांक रहा है शायद इसपर तुमने ध्यान ही नहीं दिया।

च०—तो क्या तुम्हारे कहने का तात्पर्य यह है निर्झरिणी, कि अभी तक सम्राट् के निमन्त्रण को जिस किसी ने भी स्वीकार किया है उस ने केवल या तो लोभ के वशवर्ती हो कर नहीं तो भय के ?

नि०—इससे भी अधिक सामन्त मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि अभी तक सम्राट् को जिस किसी ने सम्राट् कहा है उसके हृदय में लोभ भी रहा है, आंखों में भय भी।

च०—तुम्हारे साथ भी क्या यही सच है ?

नि०—मेरे साथ भी और तुम्हारे साथ भी। पर यदि इसका कोई अपवाद हो सका है तो वही जो कल सूर्योदय के पूर्व अपने विश्वास का मूल्य अपने प्राणों से चुकाने वाला है...

मं०—कौन ? आचार्य शशांक ?

नि०—हां, और सामन्त, तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि निर्झरिणी ने प्रतिज्ञा की है कि या तो वह आचार्य के प्राण बचायेगी नहीं तो उन्हीं के पथ पर चलकर अपना भी प्राणोत्सर्ग करेगी।

च०—निर्झरिणी !...

मं—यह तू क्या कह रही है ?

नि०—और यह लो सामन्त, भारत सम्राट् आर्य्य समुद्रगुप्त की राजसभा के रत्न-पद से नर्तक निर्झरिणी का यह स्वागत-पत्र तुम मेरी ओर से सम्राट् से निवेदन कर देना कि उन्होंने मुझ पर जो इतनी कृपा की और मेरी कला की प्रशंसा में सौजन्य-भरे जो थोड़े शब्द कहे,

उसके लिए व्यक्तिगत रूप से उन्हें अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हुई भी मैं यह स्पष्ट कर देना चाहती हूं कि इस रत्न-पद के लिए आचार्य शशांक के हृदय में ऐसी कोई भावना न थी, जो इस समय मेरे हृदय में न हो, और इस पद का त्याग कर अपने विश्वास का ऐसा कोई मूल्य नहीं, जिसे आचार्य से वसूल किया जा सके और जिसे मैं न चुका सकूं।

[निर्झरिणी चन्द्रसेन के हाथ में अपना त्याग-पत्र देती है, मंजरी झपटकर निर्झरिणी के हाथ पकड़ लेती है]

च०—किन्तु...किन्तु...

नि०—सामन्त, जिस दिन मैंने रत्न-पद ग्रहण किया था, उस दिन तुमने कहा था—'मुझे तुम से ऐसी ही आशा थी निर्झरिणी। और आज जबकि मैं उस पद का त्याग कर रही हूँ, तब भी तुम्हारे मुख से मैं वे ही शब्द सुनना चाहती हूँ। उस दिन तुमने मुझे बधाई दी थी सामन्त, क्या आज नहीं दे सकोगे!

च०—यह असम्भव है निर्झरिणी! तुम नहीं समझती कि तुम क्या कर रही हो।

नि०—मैं जो कुछ कर रही हूँ वह उसका शतांश भी नहीं है जो आचार्य शशांक कर चुके हैं और उन्होंने जो कुछ किया उसे समझने ा दावा मुझ से अधिक कौन कर सकता है?

च०—पर इसका परिणाम?

नि०—इसकी चिंता मुझसे अधिक उसे होनी चाहिये जिसके शब्दों से परिणाम टपका करते हैं ···पर अब यह प्रसंग यहीं तक।

च०—परन्तु......

नि०—कुछ नहीं। मेरी एक बात सुनो। अपनी एक चीज़ थोड़े समय के लिए उधार दे सकोगे?

च०—क्या?

नि०—अपनी वह अँगूठी।

च०—पर यह तो केवल मेरा सामन्त-पद का चिन्ह है, जिससे...

नि०—इसी से तो मांगती हूं। मैं इसका दुरुपयोग नहीं करूंगी, तुम्हें इसका विश्वास होना चाहिए।

च०—मुझे विश्वास है। [अंगूठी अपनी उंगली में से उतार कर निर्झरिणी को पहना देता है] और कुछ ?

नि०—और तुम्हारी बधाई ?

च०—नहीं निर्झरिणी मैं फिर कहत हूँ तुम सोचो...... समझो......और लौटा लो ! [त्याग-पत्र लौटाना चाहते हैं]

नि०—तुम्हारी आज्ञा मैं नहीं मान सकूँगी, इसका मुझे खेद है सामन्त फिर भी तुम मेरे वंदनीय हो मेरी इस नई जीवन-यात्रा की प्रस्थानबेला में मुझे बधाई न दे सको तो कम से कम आशीर्वाद तो दो.........[नतमस्तक होती है]

च०—निर्झरिणी।......[गला भर आता है]

नि०—अच्छा, क्षमा करना, मुझे शीघ्रता है...मंजरी, तुम से फिर मिलूंगी...[उसे चूमती है और फिर सवेग चली जाती है]

मं०—निर्झरिणी...निर्झरिणी !...[प्रस्थान]

[सामन्त चन्द्रसेन हाथ में त्याग-पत्र लिए खड़े रह जाते हैं। सामने का स्वर्ण-दीप मंझाता जा रहा है फिर एक लम्बी लौ फेंक कर वह बुझ जाता है। धीरे-धीरे सामन्त का प्रस्थान]

पंचम दृश्य

[पर्वत शिखर पर कारागृह। ऊंचे, नुकीले पर्वतीय वृक्षों के नीचे छाया और आलोक गाढ़ालिंगन में बंधे सो रहे हैं। रात्री की निस्तब्धता अन्य पशुओं के कर्कश चीत्कार और वायु के झोंकों से खड़खड़ा उठने वाले गिरे हुए सूखे पत्तों के हिलने से रह-रह कर भंग हो जाती है। आकाश में चांदनी के साथ बादलों का मूक अभिनय चल रहा है और

कारागृह के पीछे हो कर बहने वाली पहाड़ी नदी की निर्विराम कल-कल ध्वनि मानों पृष्ठ-संगीत प्रदान कर रही है। कारागृह के लौह-द्वार के सामने दो प्रहरी नंगी तलवारें लिए घूम रहे हैं। कृष्णवसना निर्झरिणी का प्रवेश।]

एक प्रहरी—कौन है ?

नि०—एक स्त्री !

दूसरा—इस समय इधर आने का प्रयोजन ?

नि०—मैं आचार्य शशांक के दर्शन करना चाहती हूं।

पहलाप्रहरी—आपके पास कोई आज्ञापत्र है ?

नि०—हां, वह अंगूठी। [अंगूठी देख कर प्रहरी निर्झरिणी का अभिवादन करते हैं।]

पहला प्रहरी—मैं अभी आचार्य को सूचना देता हूं !

नि०—आचार्य क्या विश्राम ले रहे हैं ?

दूसरा प्रहरी—नहीं, वे ध्यान-मग्न हैं ?

नि०—तो फिर मैं ही उनके पास क्यों न चलूं

पहला प्रहरी—कारागृह में महिलाओं का प्रवेश करना नियम-विरुद्ध है। आप ठहरें, मैं उन्हें अभी सूचना देता हूं।

[प्रस्थान]

[आकाश में काले मेघ उड़ते चले जा रहे हैं, वायु के वेग से निर्झरिणी का काला अंचल फहरा उठता है वृक्षों की है काली छाया हिल-डुल कर करवट बदल फिर सो रहती है। प्रहरी के साथ आचार्य शशांक का प्रवेश। निर्झरिणी सिर झुका कर नमस्कार करती है। दोनों प्रहरी दूर चले जाते हैं]

शा०—देवि निर्झरिणी ! इस समय यहां आप ?

नि०—मुझे 'तुम' कहो शशांक ! मेरा जीवन तुम्हारे अधिक से अधिक निकट पहुँचना चाहता है।

शा०—तुम सब से अधिक सत्य के निकट पहुँचने की चेष्टा करो

देवि ! वही तुम्हें वहां पहुंचायेगा, जहां मैं जा रहा हूं ।

नि०—पर तुम नहीं जा सकोगे शशांक ? मैं तुम्हें लौटा ले चलने को आई हूं ।

शा०—मैं जिस पथ पर चल रहा हूँ वह इतना संकीर्ण है कि घूम कर लौटने की उसमें जगह ही नहीं । उस पर तो केवल आगे ही बढ़ा जा सकता है ।

नि०—पर तुम चाहो तो उस संकीर्ण पथ को भी विस्तृत बना सकते हो । तुम केवल पथिक ही नहीं, पथ-निर्माता भी हो ।

शा०—मुझ पर इतनी श्रद्धा की वर्षा कर शायद तुम अपनी बुद्धि के साथ अन्याय कर रही हो देवि ! पथ का अनुसंधान करना पथ का निर्माण करना नहीं है ।

नि०—पर जिसने आगे बढ़ने के पथ का अनुसंधान किया वह क्या पीछे लौटने के पथ का अनुसंधान नहीं कर सकता ।

शा०—ऐसा अनुसंधान किया हुआ पथ, पथ नहीं रह जायेगा ।

नि०—मैं इसे नहीं मानती । जीवन के कल्याण के लिए जीव को जिस दशा में भी चलना पड़े वही पथ है । और इस समय जीवन का कल्याण तुम्हारे प्राणों की रक्षा चाहता है ।

शा०—पर मेरे पथ-भ्रष्ट हो स्वप्राण-रक्षा करने से जीवन का कोई कल्याण हो सकता है, यदि मैं इसे न मानूं तो ?

नि०—शशांक तुम अपने जीवन के इतने निकट हो कि उसके मूल्यांकन का तुम्हारा मापदण्ड गलत हो, यह असम्भव है, कम से कम इतना तो तुम मानते हो ?

शा०—मेरा मापदण्ड ग़लत है, यह असंभव नहीं, पर केवल प्राणरक्षा के लोभ से मैं उसे गलत मानने लगूं यह असंभव है ।

नि०—किन्तु मैं तो तुम्हें लोभ तुम्हारी प्राण-रक्षा का नहीं, जीवन के कल्याण का दिलाने आई हूं ।

शा०—तो क्षमा करना, ऐसे जीवन के कल्याण में मुझे विश्वास

नहीं है जिसका शिलान्यास असत्य पर हुआ हो !

नि०—मृत्यु का सामना करने से भागना असत्य है मैं मानती हूं, पर इस से भी बड़ा असत्य है जीवन को पीठ दिखाना।

श०—मैं जीवन को पीठ दिखा रहा हूं क्या तुम यह सिद्ध कर सकती हो ?

नि०—असिद्ध सत्य प्रसिद्ध सत्य से छोटा नहीं होता। फिर भी कम से कम इतना तो सिद्ध कर सकती हूं कि जीवन अभी तुम्हारा मुख देखता रहना चाहता है।

श०—और इसका कारण है शायद मेरे प्रति उसका ममत्व।

नि०—पर मेरे जिन विचारों का उपहास स्वयं मेरा आचरण ही करता हो उनके प्रचार से ही क्या लाभ ? नहीं, देवि निर्झरिणी ? मैं तुम से अनुरोध करता हूं अब कृपया इस विषय पर मुझ से अधिक आग्रह न करो।

नि०—शशांक, मैं आग्रह न करूं यह कैसे संभव है जब कि मैं जानती हूं कि तुम्हारे जीवन का महत्व... ।

श०—जीवन का महत्व तभी तक है देवि, जब तक मृत्यु का रहस्य समझ में न आवे, और याद रखो, मृत्यु भी उसी ने बनाई है, जिसने जीवन बनाया है।

नि०—जिसने मृत्यु बनाई है, यदि उसी ने जीवन भी बनाया है तो जीवन को अधिकार है कि मृत्यु के सामने एक बार आंचल फैला कर कोई भीख मांग ले। तुम जीवन के अधिकार बन कर न सही, मृत्यु के उपहार बन कर ही लौट आओ।

श०—देवि निर्झरिणी, मैं स्वीकार करता हूं यदि मैं स्वयं मृत्यु होता तो तुम्हारी वाणी के सम्मोहन के वश होकर; ऐसी कोई वस्तु नहीं होती, मैं जिसकी भीख तुम्हें न दे डालता पर मैं तो केवल उसका एक शिकार हूं, मेरे प्राण उसकी थाती, और जो वस्तु स्वयं मेरी नहीं मैं वह कैसे दे डालूं ?

नि०—नहीं, नहीं शशांक ! ऐसी बात नहीं है, यही तो समझाने के लिए इस निशीथिनी की निस्तब्धता में तैर कर इसी विजन पर्वतमाला की दुर्लभ्यता को कुचल कर, इस नारी जीवन की लोक लज्जा के आवरण को चीरकर मैं तुम्हारे पास आई हूँ। यह संभव है कि अपने तर्क से मैं तुम्हें न जान सकूं पर स्त्री का बल तर्क नहीं हठ है और...और तुम्हारे सम्मुख आज मैं स्त्री बन कर ही खड़ी हूँ।

शा०—स्त्री मेरे लिए शक्ति का प्रतीक है देवि ! मैं उससे नैतिक सशक्तता की अपेक्षा करता हूँ।

नि०—नैतिक सशक्तता का नाम लेकर मेरी प्रतिस्पर्द्धा को जगाने की चेष्टा मत करो शशांक ! स्त्री मृत्यु से नहीं डरती।

शा०—पर दूसरे को डरने का आदेश तो देती है ?

नि०—उफ ! तुम कितने निष्ठुर हो ? क्या तुम्हारे तर्कों का तूणीर आत्म-समर्पण करने वालोंके हृदय पर, बरसने के लिए ही भरा हुआ है ?

शा०—देवि ! मैं जो कुछ करता हूँ वह मेरा तर्क नहीं केवल मेरे सत्य का नम्र निवेदन है।

नि०—तो फिर तुम्हारे सत्य के सम्मुख जीवन के कल्याण के नाम पर, कला की साधना-संरक्षण के नाम पर और...और एक स्त्री के पुरुष से वर याचना करने के नैसर्गिक अधिकार के नाम पर मैं अपना आँचल फैलाकर आज तुम्हारे प्राणों की भीख माँग रही हूँ। [घुटने टेकती है] शशांक, तुम मुझे अपने सत्य का अंतिम उत्तर सुना दो।

शा०—सत्य का उत्तर सर झुका कर नहीं, सर ऊँचा करके सुनो देवि ! [निर्झरिणी को उठाते हैं]

नि०—कहो।

शा०—अपनी कला की मर्यादा की रक्षा के लिए, अपने विचारों के परिपालन के लिए और अपने विश्वासों की घोषणा के लिए यदि

आवश्यकता हो तो शशांक को मारना ही पड़ेगा और शशांक मरेगा ! र

नि०—...

श०—देवि निर्झरिणी !

नि०—शशांक—

श०—क्या मैं आशा करूं कि तुम मुझे क्षमा करोगी ?

नि०—यदि कोई आशा मैं तुम्हें दे सकती हूँ तो इतनी है कि यदि शशांक मरेगा तो निर्झरिणी भी मरेगी।

श०—पर यह तो उचित नहीं है। तुम्हारा सत्य तो तुम्हें मर के लिए बाध्य नहीं करता ?

नि०—मेरा सत्य मुझे बाध्य करता है कि जिस पथ पर तुम जा रहे हो उसी पर मैं भी चलूं।

श०—यदि ऐसा है तो फिर मुझे अधिकार है कि मैं तुम्हें सूचित करूँ कि जिस पथ मैं जा रहा हूँ वह कितना संकटापन्न है और......

नि०—मुझे भी अधिकार है कि मैं तुम से कह दूं कि मुझे तुम्हारी सूचना की कोई आवश्यकता नहीं। पर अब यह प्रसंग यहीं समाप्त होता है शशांक ! मुझे आशीर्वाद दो कि मैं तुम्हारे पथ पर चल सकूं।

श०—मैं अपने को आशीर्वाद देने के योग्य तो नहीं मानता, पर हां, मेरी शुभ कामनाएं तुम्हारे साथ होंगी।

नि०—मेरे लिए इतना ही बहुत है [पद-धूलि लेने के लिए झुकती है]

श०—मुझे तुम से महान आशाएं हैं...प्रहरी ! [दोनों प्रहरी निकट आते हैं] अच्छा देवि, अब मुझे आज्ञा दो। [शशांक कारागृह की ओर लौटते हैं। पीछे-पीछे दोनों प्रहरी जाते हैं। कारागृह का लौह-द्वार झनझनाहट के साथ बन्द हो जाता है। पर बहुत दूर कोई पक्षी करुण स्वर से बोल उठता है। पहाड़ी नदी के कलकल को भंग

कर पर्वत से लुढक कर गिरते हुए किसी चट्टान की खड़खड़ाहट की आवाज़ आती है, आकाश में एक तारा टूट कर अंधकार के वक्ष पर प्रकाश की एक रेखा-सी खींचता हुआ न जाने किधर विलीन हो जाता है। निर्झरिणी संज्ञा-शून्य-सी निःस्पंद नीरव खड़ी कारागृह के उस लौह-द्वार की ओर निर्निमेष देख रही है।]

नि०—आशाएं...मुझ से...तुम्हें...? [सामने चन्द्रसेन के साथ सम्राट समुद्रगुप्त का प्रवेश]

स०—नर्तकी !

नि०—सम्राट ! चन्द्रसेन दूसरी ओर चले जाते हैं]

स०—रात्रि का अन्तिम प्रहर, पर्वत-शिखर पर कारागृह का यह लौह-द्वार और एकाकिनी तुम—इसका अर्थ ?

नि०—मैं आचार्य शशांक को उनके पथ पर से लौटाने आई थी सम्राट, पर अब उनके ही पथ पर चलने जा रही हूँ।

स०—और इसका कारण ?

नि०—आचार्य शशांक जिस कला के मूर्तिमान स्वरूप हैं, उसी की मैं एक तुच्छ आराधिका हूँ, जो उनका सत्य है वही मेरा आलोक-स्तंभ है, जो उनका पदचिह्न है वही मेरा पथ।

स०—किन्तु आचार्य शशांक राजसत्ता के विरोधी हैं, राजद्रोही हैं, क्या तुम्हें मालूम है।

नि०—वे जो कुछ हैं वह इसलिए कि वैसा होना उनके सत्य का अनुरोध है और ईश्वर का बनाया हुआ सत्य मनुष्य की बनाई हुई राजसत्ता से कहीं अधिक अनुल्लंघनीय है।

स०—पर मनुष्य की बनाई हुई राजसत्ता भी ईश्वर के बनाये हुए इस सत्य का ही एक निदर्शन है कि जीवन का, स्वस्थ विकास संगठन से ही हो सकता है और संगठित शक्ति का जो भी प्रतीक हो, उसे अपनी छाया में उगते हुए जीवन के प्रत्येक अंकुर से अकुंठित

श्रद्धांजलि ग्रहण करने का निर्विवाद अधिकार होना चाहिए। फिर राजसत्ता के प्रति विद्रोह की घोषणा करना क्या ईश्वरीय सत्य का उल्लंघन करना नहीं है।

नि०—सम्राट यह मैं मानती हूँ कि राजसत्ता का आधार है ईश्वरीय सत्य की ही एक शिला, पर यह मैं नहीं मानती कि इसकी रचना की प्रत्येक शिला एक सत्य है। मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि सम्राट जिस राजसत्ता का संकेत कर रहे हैं मेरी दृष्टि में वह एक प्रासाद की तरह है, जिसकी नींव संगमरमर की चट्टानों की है, दीवारें मिट्टी की।

स०—उस राजसत्ता के प्रति ऐसा दृष्टिकोण होने का कारण?

नि०—कारण वही है जिसके कार्य-स्वरूप आज सूर्योदय से पूर्व आकाश में किरणों की अरुण-रेखा खिंचने के साथ-साथ उस पहाड़ी नदी की लहरों में रक्त की अरुण-रेखा खींची जाने को है।

स०—पर इस दृष्टिकोण के पीछे क्या व्यक्तिगत ममत्व की भावना नहीं है?

नि०—व्यक्तिगत ममत्व नहीं है यह कहकर मैं असत्यवाद की अपराधिनी नहीं बनना चाहती सम्राट, पर आप सत्य मानें यह प्रश्न अब व्यक्ति से ऊपर उठकर उस समष्टि का हो गया है, जिस का मृत्यु-मन्दिर में प्रतिनिधित्व करने आचार्य शशांक जा रहे हैं। यदि राजसत्ता को अधिकार है कि वह कलाकार के सम्मुख उसकी कला के मूल्यांकन का असभ्य प्रस्ताव सम्मानों के स्वर्णिम आभरण में लपेट कर रख सके, तो उससे भी अधिक अधिकार कलाकार को है कि वह उसे उपेक्षा पूर्वक ठुकरा दे। और तब यदि राजशक्ति को अधिकार है कि वह अपने पशुबल-प्रदर्शन से कलाकार को दंडित करना चाहे तो कलाकार को अधिकार है कि वह हृदय में क्षमा और वाणी में अपने विश्वास को रख कर उसे अंगीकार कर ले। यह तो अधिकारों

का एक संग्राम है सम्राट, जिसमें राजसत्ता को गर्व है अपने पशुत्व का और कलाकार को अपने देवत्व का।

स०—तो नर्तकी निर्झरिणी, तुम्हारा त्याग-पत्र पाने और तुम्हारी वाणी से राज-द्रोह के ऐसे विस्फोटक अग्नि-कण झरते देखने के बाद क्या मेरा यह अनुमान करना युक्तिसंगत न होगा कि आचार्य शशांक ने अपने बाद अधिकारों के इस संग्रामके सेनानायकत्व के लिए तुम्हारा ही वरण किया है ?

नि०—उन्होंने वरण नहीं किया है सम्राट, मैं ही स्वयंवरा बनी हूँ। उन्होंने तो केवल मार्ग-निर्देश किया है, उस पर चलने के लिए मुझे प्रेरणा मेरी आत्मा ने दी है।

स०—फिर मेरा यह समझना भी संभवतः उपयुक्त ही होगा कि उस मार्ग पर पांव रखने के पहले उसकी संभावनाएं क्या हैं तुम ने इस की भी कल्पना कर ली है।

नि०—मुझे अपनी कल्पना-शक्ति से अधिक बल अपने इस विश्वास का है कि राजसत्ता के हाथों में उत्पीड़न की जितनी शक्ति हो सकती है उससे अधिक शक्ति रहती है कलाकार के हृदय में उसे सहन कर क्षमा कर देने की।

स०—निर्झरिणी !

नि०—सम्राट !

स०—मैं चाहता हूँ तुम समझो कि तुम क्या कह रही हो।

नि०—और मैं चाहती हूँ कि मैं जो कहती हूँ आप उस पर विश्वास करलें।

स०—विश्वास...निर्झरिणी, तुमने अपने जीवन में विश्वास करना सीखा है ?

नि०—हां सम्राट, बहुत कुछ ! मुझे विश्वास है कि अभी सूर्योदय होने से पूर्व राजसत्ता इस पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर चढ़कर नीचे

हती हुई इस पहाड़ी नदी में एक मानव का रक्त तर्पण कर उससे सगर्व पूछेगी कि मेरी भुजाओं में कितना बल है और मुझे विश्वास है तब उस पहाड़ी नदी की रक्त रंजित लहरें हंस कर उत्तर देंगी— तुम्हारी भुजाओं के बल से अधिक है उसके हृदय का बल जिसका बलिदान ही आज तुम्हारा ताण्डव बना है और तब सम्राट, मुझे विश्वास है कि...

स०—उफ़···ठहरो निर्झरिणी ! मैं तुम से कुछ कहना चाहता हूं तुम उसे सुनो, उसे समझो और फिर उस पर विश्वास करो करोगी।

नि०—मैं सुन रही हूं।

स०—इस समय यहां मैं तुम्हारे संमुख भारत-सम्राट् के रूप में नहीं एक मनुष्य के रूप में खड़ा हूं, और जो मैं तुम से कहने जा रहा हूं वह राजसत्ता का आज्ञा-विधान नहीं एक व्यक्ति का अनुरोध है। निर्झरिणी, इस समय तुम्हारी आंखों में अपनी शक्तिमत्ता की विद्युत रेखा की चकाचौंध भरने के विपरीत मैं तुम्हारे कानों में अपनी दुर्बलता की एक सलज्ज स्वीकृति पहुँचाना चाहता हूँ... मैं...मैं...

नि०—मैं इसके लिए कृतज्ञ हूँ।

स०—और इससे भी अधिक कृतज्ञ तुम्हारा मैं होऊँगा, निर्झरिणी यदि तुम किसी प्रकार भी ऐसा प्रयत्न कर सको कि भारत की राज-सत्ता के कोप के अग्निकुण्ड में भारत महान कलाकार आचार्य शशांक अपने आप को कूदने से रोक लें।

नि०—सम्राट् !

स०—मुझे केवल समुद्रगुप्त कहो निर्झरिणी !

नि०—क्या आपके कहने का अभिप्राय यह है कि मैं आचार्य शशांक को राजसत्ता के सम्मुख नत-मस्तक होने के लिए प्रेरित करूँ ?

स०——संधि-सत्र में आबद्ध होकर हाथ मिलाना नत-मस्तक होना नहीं है निर्झरिणी ! मैं विजय-पराजय की प्रतिस्पर्द्धा की तनातनी लेकर नहीं; मैत्री के पारस्परिक अभिज्ञान की स्पृहता लेकर उनसे मिलना चाहता हूँ, मैं भूलना चाहता हूँ कि मैं सम्राट् हूँ, कि वे भूल जायँ कि वे कलाकार हैं। हम दोनों मनुष्य हैं और मनुष्य के रूप में ही हम एक दूसरे का आलिंगन कर सकते हैं ' और निर्झरिणी मेरा अनुरोध है कि मेरी इस भावना को तुम समझो, इस पर विश्वास करो और यदि हो सके तो मुझे इसमें......अरे !......[काकाश में प्रत्यूष का पीलापन भी न रहा है। दक्षिणी वायु अंगड़ाई ले उठी है। दूर पर जागृति का निःश्वास बन एक कोयल कूक रही है और तब इसी समय काराग्रह के प्राचीरों में सहम कर सिमटी हुई निस्तब्धता में से एक अलौकिक संगीत का मधुमय उच्छ्वास उस लौह-द्वार के ऊपर से छलक कर मानों दिशाओं में चारों ओर उमड़ पड़ता है।]

नि०——काचार्य शशांक स्वर-साधना कर रहे हैं......सुन लो .. इसे अन्तिम बार सुन लो...

स०——अंतिम बार !......(संगीत की स्वर-लहरी धीरे-धीरे उद्यान की तरह उठती हुई दिशाओं में गूंजती, पर्वत शिखरों और शिलाखंडों से टकराती, प्रतिध्वनि के रूप में लौट कर फिर मानों कारागृह की अन्धकार-विनिमज्जित नीरवता में डूब जाती है। सम्राट् क्रूरता के कंकाल की तरह खड़े लौह द्वार को देखते हुए स्वप्निल, आत्म विस्मृत; मूक, निश्चेष्ट खड़े न जाने क्या सोच रहे हैं, इतने में ही लौह-द्वार के पीछे से एक झंकार होती है, कारागृह का पाषाण हृदय मानोसचेत हो उठता है, न जाने कितने लोहे और पत्थरके टुकड़े आपस में टकरा कर एक कर्कश झनझनाहट से बज उठते हैं, लौह-द्वार धीरे-धीरे खुलता है और उसके अन्धकार में से उषा की मुसकान की तरह गैरिक वस्त्र पहने आचार्य शशांक प्रवेश करते हैं और उनके पीछे

हैं सामन्त चन्द्रसेन और दो शस्त्र प्रहरी। सम्राट् आचार्य शशांक को देखकर पहले तो हतबुद्धि से रह जाते हैं मानो आचार्य एक अभौतिक अदृष्टपूर्वक आलोकपुंज है जिसे वे पहचान भी न पाये, पर किस परिचय की छाया आंखों में लौट आती है और सम्राट् वेग से आगे बढ़ते हैं]

स०—आचार्य शशांक !

श०—सम्राट् !

स०—यह संगीत था या विभ्रम ?

श०—शायद सम्राट् का अभिप्रात मेरी स्वर-साधना से है ?

स०—मैं पूछता हूं क्या यह आपका ही संगीत था, इस कंठ की ही स्वर-लहरी, इस वाणी का ही इन्द्रजाल ?

श०—हाँ, मैं गा रहा था सम्राट् !

स०—यदि इसे ही गाना कहते हैं तो अमृतवर्षा किसे कहते हैं ?...शशांक !...शशांक !... [झपट कर उन्हें आलिंगन पाश में जकड़ लेते हैं।] क्षमा !...क्षमा !...

श०— [आलिंगन में से धीरे-धीरे निकल कर] सम्राट् अब सूर्योदय होने को ही है, और वह पर्वत-शिखर और उस पहाड़ी नदी की लहरें शायद मेरी प्रतीक्षा कर रही हैं...अब मुझे आज्ञा दें।

स०—आचार्य ! आपकी प्रतीक्षा जीवन कर रहा है, जिसे इस मर्त्य भूमि में अमरत्व की साधना करनी है। और मैं आप को जीवन के पास लौटा ले चलाने को आया हूं। आप को मेरे साथ लौटाना ही होगा। सामन्त चन्द्रसेन, आचार्य शशांक को आश्रम में पहुंचाने के लिए रथ का प्रबन्ध करो···और···और···साथ ही राजधानी में घोषित करा दो कि आज रात्रि में आचार्य के आश्रम में संगीत-समारोह होगा जिसमें भारत-सम्राट् समुद्रगुप्त की ओर से स्वागत का......

शशांक—निर्झरिणी !......अरे......[निर्झरिणी मूर्छित होती है सम्राट् झपट कर उसे पकड़ लेते हैं ।]

स०—निर्झरिणी ! निर्झरिणी !...यह तो मूर्छित हो गई ।

पानी······पानी······सामन्त, पानी लाओ ।·········[सामन्त चन्द्रसेन पानी के लिए दौड़ते हैं । सम्राट् निर्झरिणी को शिला खण्ड पर लिटा कर अपने उत्तरीय से उसे हवा करते हैं । और तभी प्राची में बालसूर्य की स्वर्णाभ किरणें खिल खिलाकर हँस पड़ती हैं]

पटाक्षेप

जीवनी

'श्री विष्णु प्रभाकर' भावुक और प्रगति शील लेखक हैं। इनका विश्वास है—समाज में जब तक अमूलचूल क्रान्ति नहीं होती तब तक शान्ति असम्भव है। इन्होंने अपनी रचनाओं में चोर बाजारी रिश्वतखोरी पर तीखे व्यङ्ग्य किये हैं और समाज का नैतिक धरातल ऊँचा करने के लिए अपनी नन्हीं और सुन्दर रचनाओं से जनता में नागरिकता की शिक्षा प्रदान की है।

ये कहानीकार, एकांकीकार, गद्यगीत लेखक और निबन्धकार भी हैं।

सम्पत्ति का विभाजन तो हो सकता है किन्तु हृदय की दुनिया पर विभाजन रेखा अंकित करना असम्भव है। भाई-भाई में, बाप दादे की सम्पत्ति का बटबारा तो हो सकता है किन्तु देवर भाभी की आन्तरिक स्नेह की ग्रन्थियां विभाजन रहित हैं। उनकी हृदयवेदना आँखों में छलक ही आई।

'विभाजन' पारिवारिक जीवन का एक चित्र है जो आत्मोत्सर्ग प्रेम और करुणा का संचार करता है।

विभाजन

पात्र-परिचय

प्रभुदयाल—बड़ा भाई　　　　भगवती—बड़ी बहू

देवराज—छोटा भाई　　　　शारदा—छोटी बहू

महेश, रमेश, नीला, पुजारी, मुहल्ले की स्त्रियाँ आदि ।

विभाजन

पहला दृश्य

समय—रात के ९ बजे।

स्थान—एक साधारण कस्बा।

कस्बे के मुहल्ले में एक घर का आंगन। रात काफी अन्धेरी है। आंगन के पार एक कमरे में लालटैन टिमटिमा रही है उसी का प्रकाश आंगन में फैला है। उसी प्रकाश में एक स्त्री चूल्हे के आगे बैठी है। यह भगवती है साधारण कपड़े पहिने है। सरदी है, इसीलिये आग ताप रही है। चूल्हे पर दूध पक रहा है कि अन्दर से बालक के रोने की आवाज़ आती है। उठकर अन्दर आती है। क्षण भर सन्नाटा छाया रहता है, फिर धीरे-धीरे एक मीठा स्वर वहां आकर फैलाता है। भगवती लोरी सुनाकर बच्चे को सुलाती है]

भगवती—परियों के देश से आ जा री निंदिया।

नीला को आकर सुला-जा री निंदिया।

ऊपर है तारों का संसार, नीचे मेरे मन का प्यार,

चन्दा मामा ऊपर तेरे, नीचे प्राण संग हैं मेरे।

पलकों में आके समा जा री निंदिया॥

नीला को आके सुला जा री निंदिया।

[तभी दरवाजे पर खट खट होती है, कोई पुकारता है।]

आवाज़—भाभी⋯भाभी⋯

भगवती—कौन है?

आवाज़—मैं—, देवराज!

[भगवती शीघ्रता से उठती है और किवाड़ खोल देती है।]

भगवती—देवराज ! क्यों ? रात को कैसे आया

[मुस्कराती है ।]

देवराज—[हँसता है] चौंकती हो भाभी ! अपने घर के लिए भी रात या दिन का सवाल होता है ?

भगवती—घर तो तेरा ही है परन्तु फिर भी कोई काम है क्या ?

देवराज—हाँ भइया से काम था ।

भगवती—वे तो दस बजे से पहले कभी मन्दिर से नहीं लौटते ।

देवराज—तब !

भगवती—कोई ज़रूरी काम है ? मैं कह दूँगी !

देवराज—हां ! तुम ही दे देना ! रुपया लाया था ।

भगवती—[अचरज से] कैसे रुपये हैं ? क्या उन्होंने मांगे थे ?

देवराज—नहीं तो ।

भगवती—तो ।

देवराज—भाभी । कल पहली तारीख है । महेश को रुपये भेजने हैं, वही लाया हूँ ?

भगवती—महेश को तो रुपये मैं भेज चुकी । तू कैसे लाया है ?

देवराज—[अचरज से] भेज चुकी ! परन्तु आधे रुपये तो मैं देता हूँ ।

भगवती—ओ ! यह बात है । देवराज ! अब तुम्हारे देने की बात नहीं उठती । अब हम अलग-अलग हैं ।

देवराज—[अप्रतिम-सा होकर] भाभी ! तुम क्या कह रही हो ? दुकानें तब भी दो थीं, अब भी दो हैं । घर बँट जाने से क्या हम भाई-भाई भी नहीं रहे ?

भगवती—मैं यह कब कहती हूँ भइया ! पर जो बात है कैसे

भुलाई जा सकती है। जब हम साझे थे तो दुनिया की दृष्टि में एक थे। तू दो सौ कमाता था और वे दस; परन्तु मेरा दोनों की कमाई पर एक-सा अधिकार था। अब अलग-अलग हैं, तेरे दो सौ रुपयों पर मेरा कोई अधिकार नहीं है। यह व्यवहार की सीधी बात है। नाते-रिश्ते का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

देवराज—परन्तु भाभी! मेरी आमदनी पर तुम्हारा अधिकार नहीं है, महेश का तो है। मैं उसी को देता हूँ तुम्हें नहीं......।

भगवती—देवराज! जब तक हम हैं उसके पालन-पोषन का कर्त्तव्य हमारा है। जब हम नहीं रहेंगे, तब तेरे देने की बात उठ सकती है। [गर्व से] व्यर्थ ही झुकना क्या ठीक है? जब बहुत थे तब बहुत खर्च करके सिर ऊँचा रखा। अब कम हैं तो हम किसी से मांगेंगे नहीं। ना तेरी भाभी जीते जी कभी ऐसा नहीं करेगी। देख फिर कहती हूँ तू देगा तो लौटाने की बात उठेगी। उतनी शक्ति हम में नहीं है। न जाने कल को क्या हो? भाई-भाई में जो मोहब्बत है वह भी खोनी पड़े। उस समय दुनियां हँसेगी। इसलिए कहती हूं, तू लेने की बात मत कर। और सुन, जब हम नहीं रहेंगे तब तू ही तो करेगा। [क्षण भर रुककर] जा घर पर बहू अकेली होगी। कितना अन्धेर है बाहर।

देवराज—भाभी।

भगवती—हां, भइया।

देवराज—तो जाऊँ।

भगवती—और कैसे कहूँ?

देवराज—मैंने यह नहीं सोचा था, भाभी!

भगवती—देव! तू जानता है जब मैं इस घर में आई थी, तो तू कितना बड़ा था? सात वर्ष का होगा। मैंने ही पाल-पोष कर इतना बड़ा किया है। उस प्रेम को कोई मिटा सकता है? उसी प्रेम

को अक्षुण्ण रखनेको कहती हूँ, देवराज ! तू भाभी के साथ व्यवहार के पचड़े में न पड़े।

देवराज—भाभी ई ई ई……

भगवती—जा। रात बढ़ी आ रही है। इतने बड़े घर में बहू अकेली होगी !

[देवराज की आंखें झर-झर बहती हैं। वह बेबस-सा उठता है और बिना बोले एकदम बाहर निकल जाता है। भगवती किवाड़ बन्द कर लेती है। उसकी आँखों से आँसू छलक आये हैं पर चेहरे पर एक अद्भुत मुस्कराहट है, जो धीरे-धीरे हँसी में पलट जाती है।]

भगवती—[हँसती-हँसती] पगला ! दो नाव में पैर रखना चाहता है !

[भगवती फिर उसी तरह चूल्हे के पास आकर बैठ जाती है। कोयले बुझ चले हैं, उन्हें लहकाने लगती है। फिर निस्तब्धता छा जाती है।]

दूसरा दृश्य

समय—लगभग १० बजे रात।

स्थान—बाजार में ठाकुर जी का मन्दिर।

[मन्दिर में ठाकुर जी की सजी प्रतिमा के सामने पूजा हो रही है। कुछ भक्त जन घण्टे घड़ियाल बजा रहे हैं। कुछ दोनों हाथ जोड़े ध्यानावस्था में खड़े हैं। मूर्ति के ठीक सामने एक थाल में कुछ पैसे पड़े हैं। दूसरी तरफ चौकी पर एक तश्तरी में मिष्ठान्न और एक लोटे में चरणामृत है। पुजारी जी जोर-जोर से पुकार रहे हैं।]

पुजारी—[ध्यान लगाये हुए]

ओ३म् ! ओ३म् ! ओ३म् ! ओ३म् !

त्वमेव माता च पिता त्वमेव ।
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ॥
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव ।
त्वमेव सर्वं मम देव देव ॥

ओ३म् हरि, ओ३म् हरि, ओ३म् हरि, ओ३म् हरि !

[कुछ भक्त जाते हैं, कुछ और आते हैं, जाने वाले पुजारी को प्रणाम कर चुपचाप हाथ फैला देते हैं, पुजारी एक चम्मच से चरणामृत तथा मिष्ठान्न का एक टुकड़ा उनके फैले हुए हाथ पर रख देता है। श्रद्धा से झुककर वे चले जाते हैं। कहीं दूर दस का घण्टा बजता है। पुजारी उठता है। आरती उठाकर घण्टी हिलाता है। कुछ क्षण तक सब मिलकर गाते हैं 'आरती श्री ठाकुर जी की' और फिर सब स्वर एकदम समाप्त हो जाते हैं। पुजारी भक्तों को अन्तिम प्रसाद देने के लिए आगे बढ़ता है। इसी समय देवराज वहाँ आता है, सबको देखता है।]

देवराज—पुजारी जी, पालागन।

पुजारी—जीते रहो, सुखी रहो देवराज ! कैसे आये इस वक्त ?

देवराज—भइया को देख रहा था। गये क्या ?

पुजारी—वे अभी गए हैं। कहते थे आज जी कुछ उदास है। सत्संग में नहीं बैठे। हां, पूजा समाप्त कर गए हैं। नियम के बड़े पक्के हैं। [हंसता है]

देवराज—हाँ, पुजारी जी। भइया ने जीवन में एक ही बात सीखी है और वह है नियम ! नियम से परे उनके लिए कुछ भी नहीं है।

पुजारी—देवराज ! मैं कहता हूं, प्रभुदयाल क्या इस दुनिया का आदमी है। नहीं, वह तो देवता है। परन्तु [आहिस्ते से] जब से उस घर में आये हैं, कुछ उदास रहते हैं.. ।

देवराज—[चौंककर] हां...[संभल कर] इस बार जब कथा

हुई थी, आप नहीं आये थे।

पुजारी—[नम्र स्वर में] हां भइया इस बार मैं नहीं आ सका था। काश्मीर चला गया था। बड़ा दुःख रहा प्रभुदयाल के घर कथा हो और मैं न रहूँ।

देवराज—लेकिन! पुजारी जी, आप हों या न हों, हम आपको भुला नहीं सकते। आपके दक्षिणा के बीस रुपये मैं ले आया हूँ [देता है]

पुजारी—[बेहद नम्र होकर] हैं, हैं, हैं! देवराज! मैं कहता हूँ तुम दोनों भाई दिव्य हो। तुम्हारे ऐसे जन बिरले हैं। परमात्मा तुम्हें सदा सुखी रखें। आनन्द...

देवराज—[मुस्कराता है] और पुजारी जी एक बात न भूलियेगा।

पुजारी—[मुस्कराता है] क्या?

देवराज—इस बार भगवती देवी का जाप करना है।

पुजारी—ज़रूर ज़रूर। यह तो मैं हमेशा करता हूँ।

देवराज—और यजमान भइया होंगे।

पुजारी—जानता हूं देवराज! वे बड़े हैं।

देवराज—जी! अच्छा पालागन महाराज।

पुजारी—युग युग जीयो, सुखी रहो।

[देवराज बाहर जाता है! पुजारी फिर प्रसाद बांटने लगता है, भक्तजन आपस में बातें करते हैं।]

एक आदमी—देखा इस देवराज को। जब जरा वो पैसे कमाने लायक हुआ तो भइया को अलग कर दिया।

दूसरा आदमी—हाँ भइया! प्रभुदयाल को बहू ने पेट का समझकर पाला था। मां तो ज़रा-से को छोड़कर मर गई थी। उसके जी पर क्या बीतती होगी?

तीसरा आदमी—तुम नहीं जानते, बड़ी तेज औरत है। देवराज

ने केवल एक बार कहा था, भाभी इस रोज़-रोज़ की खट-खट से तो अलग चूल्हा बना लेना अच्छा है। बस उसने दो चूल्हे करके दम लिया। प्रभुदयाल तो सीधा-सादा आदमी है।

चौथा आदमी—अजी घर-घर यही मिट्टी के चूल्हे हैं। बंटना क्या बुरा हुआ। प्रभुदयाल का ख़र्च भी तो ज्यादा है।

पहला आदमी—अजी खर्च ज्यादा है तो क्या प्रेम को भुलाया जा सकता है। आखिर उन्होंने ही तो इस योग्य बनाया है। बेटे भी इ‌स तरह करने लगें तो—

दूसरा आदमी—भइया! बेटे और भाई में अन्तर होता है।

तीसरा आदमी—अजी! भाई और बेटे में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर तो ये सब औरतें करवा देती हैं। बेटे की बहू आने पर घर में रोज़ तूफ़ान मचा रहता है, और सब तो भइया के विवाह होते ही अलग हो जाते हैं।

[सब हँस पड़ते हैं और इसी तरह बातें करते-करते बाहर चले जाते हैं। पुजारी भी तब तक सब दीप बुझा चुकता है। केवल एक दीवा ठाकुर जी पास मंद-मंद प्रकाश फेंकता है। पुजारी ठाकुर जी को प्रणाम करता है और किवाड़ बन्द कर देता है। बाहर जाता है। अन्धकार के साथ-साथ गहरी निस्तब्धता वहाँ छा जाती है।]

तीसरा दृश्य

समय—प्रातः ८-९ बजे।

स्थान—प्रभुदयाल का घर।

[प्रभुदयाल पूजा करके दुकान पर जाने का बन्दोबस्त कर रहे हैं। छोटा लड़का रमेश आँगन में बैठा तकली कात रहा है। नीला चौखट पर बैठी रोटी खा रही है। आँगन में सफाई है। कमरा भी साफ नज़र आ रहा है। चूल्हे से धुआँ उठता है और ऊपर आसमान

में काले धुँधले बादल बन रहे हैं। वातावरण में एक गूँज-सी भरी है। तभी बाहर से भगवती हाथ में एक चिट्ठी लिये आती है और प्रभुदयाल के पास आकर खड़ी हो जाती है।]

प्रभुदयाल—[देखकर] किसकी चिट्ठी है ?

भगवती—महेश की।

प्रभुदयाल—[मुस्कराकर] क्या लिखा है उसने ?

भगवती—वही लिखा है जो हमेशा लिखता है। कैसे भी हो रुपये का प्रबन्ध कर ही दें। अपने दरजे में अव्वल आया है।

प्रभुदयाल—[जाकेट के बटन लगाते-लगाते] अव्वल तो हमेशा ही आता है, परन्तु रुड़की जाने के लिए कम से कम १००) महीने का खर्च है।

भगवती—वह तो मैं जानती हूं, परन्तु रुपये नहीं मिलेंगे, इसी कारण लड़के का भविष्य नहीं बिगाड़ा जा सकता।

[क्षणिक सन्नाटा]

भगवती—मैं तो समझती हूं कि रात को जो कुछ मैंने कहा था, वह ठीक रहेगा।

प्रभुदयाल—[सोचता है] तुम तो बस......

भगवती—जानती हूं दुकान गिरवी रखने की बात से आप को दुःख होता है, अगर मेरे पास इतने गहने होते, जिनसे उसका काम चल जाता तो मैं कभी यह बात नहीं कहती। १०००) रुपये से एक साल का खर्च भी नहीं चलेगा। बात तीन साल की है।

प्रभुदयाल—कुछ भी हो, मैं बाप दादा की सम्पत्ति नहीं बेच सकता। गिरवी रखकर छुड़ाने की आशा नहीं रहती। और फिर दुकान की वजह से साख बंधी है। एक बार गई तो पेट भरना भी मुश्किल हो जायगा।

भगवती—यह सब मैं जानती हूं, परन्तु पूछती हूं दुकान की ममता क्या लड़के की ममता से ज्यादा है ?

[प्रभुदयाल बोलते नहीं, केवल शून्य में ताकते हैं।]

भगवती—[सहसा याद करके] एक बात कहूँ।

प्रभुदयाल—क्या ?

भगवती—मैं देवराज को बुलाती हूं।

प्रभुदयाल—क्यों ? क्या उससे रुपया माँगोगी ?

भगवती—सुनो तो। आप उससे कहना कि वह आपकी दुकान गिरवी रख ले !

प्रभुदयाल—[सोचकर] वह रख ले !

भगवती—जी हाँ। इस तरह बाप-दादे की सम्पत्ति बेचनी भी नहीं पड़ेगी और काम भी बन जायेगा।

प्रभुदयाल—बात तो तुम्हारी ठीक है।

भगवती—तो बुला लूं उसे। फिर तो वह दिसावर चला जायगा।

प्रभुदयाल—बुला लो।

भगवती—[पुकारती है] रमेश ! ओ रमेश ! भइया, जा तो अपने चाचा को बुला ला। कहना भाभी बुला रही है।

रमेश—[दूर से] जाता हूँ, माँ जी।

[कुछ क्षण वहाँ सन्नाटा रहता है। भगवती चूल्हे को तेज करती है कि रमेश और देवराज वहाँ आते हैं।]

भगवती—अरे क्या इधर ही आ रहा था ?

रमेश—हां मां जी। चाचा तो यहीं आ रहे थे।

देवराज—क्या बात है भाभी ? सुना है महेश रुड़की जाना चाहता है। बड़ी सुन्दर बात है।

भगवती—हां ! कई दिन से यही बात सोच रहे हैं।

देवराज—कुल तीन साल की बात है भगवान की कृपा से हमारे कुटुम्ब में भी एक अफसर बनेगा। महेश है भी होशियार।

भगवती—यह तो सब ठीक है देवराज ! पर बात रुपयों पर

आकर अटक गई है ।

देवराज—क्या सोचा फिर ?

प्रभुदयाल—[खांसते-खांसते] उसी के लिये तो बुलाया है ।

देवराज—जी !

प्रभुदयाल—[एकदम] मैं कहता हूँ कि तू मेरी दुकान ले ले···।

देवराज—[चौंककर] मैं···।

प्रभुदयाल—हाँ। तीन हज़ार रुपये की जरूरत है ।

देवराज—लेकिन भइया···।

प्रभुदयाल—मैं धीरे धीरे सब चुकता कर दूंगा ।

देवराज—[दबता स्वर] लेकिन भइया, आप मुझसे कह रहे हैं···?

प्रभुदयाल—हाँ···।

देवराज—आपकी दुकान मैं गिरवी रख लूं ?

प्रभुदयाल—हाँ···।

भगवती—इसमें बात ही क्या है । तेरे भइया नहीं चाहते कि दुकान किसी दूसरे के पास रहे । अगर छुड़ा भी नहीं सके तो अपने ही घर रहेगी ।

देवराज—[सांस लेकर] ठीक कहती हो भाभी । व्यवहारकुशल आदमी दूर की बात सोचता है परन्तु बहुधा वह अपने अन्दर की मनुष्यता भूल जाता है ।

भगवती—[चौंकती है] क्या कहता है तू !

देवराज—व्यवहार की बात है भाभी ! सोचूंगा ! [हंसता है]

भगवती—[बरबस हंसती है] हाँ हाँ सोच लेना और जवाब दे देना । आखिर महेश के लिये कुछ करना ही होगा । कल को दुनिया कहेगी मां बाप ने पैतृक-संपत्ति के मोह में पड़कर सन्तान का गला घोंट दिया । वह उचित नहीं होगा ।

देवराज—नहीं भाभी! उसे जरूर रुड़की भेजो। [उठता है] अच्छा मैं जाता हूं, सांझ को आऊंगा।

[देवराज जाता है। प्रभुदयाल भी अनमने से उठते हैं।]

भगवती—डरती हूँ मना न करदे।

प्रभुदयाल—जो कुछ होना है वह तो होगा ही।

[वे भी लकड़ी उठाकर बाहर चले जाते हैं। भगवती अकेली आंगन में बैठी सोचती है। आँखों में आंसू भर आते हैं। उन्हें पोंछती नहीं]

चौथा दृश्य

समय—दोपहर के लगभग ११॥ बजे।

स्थान—देवराज का घर।

[देवराज का घर काफी सुन्दर और सजा हुआ है परन्तु अब खाली नज़र आता है। केवल आँगन के पास दालान में सामान अस्त-व्यस्त अवस्था में पड़ा है। कुछ बक्स हैं होल डाल है, सूट केस है। देवराज की पत्नी शारदा अन्दर से ला-ला कर सामान वहाँ रख रही है। रसोई-घर से धुँआ आ रहा है। बाहर से स्त्रियाँ आती हैं। दो चार मिनट बतलाकर चली जाती हैं।]

स्त्री—[आकर] बहू!

शारदा—जी।

स्त्री—कब तक लौटेगी?

शारदा—जी कह नहीं सकती। कई वर्ष का काम है। बीच-बीच में शायद कुछ दिन के लिए आ सकूं।

स्त्री—हाँ बहू, जो परदेश में कमाने जाते हैं घर उन्हें भूल जाता है।

[उसी समय देवराज वहाँ आता है, स्त्री बाहर जाती है।]

देवराज--शारदा ! अभी निबटी नहीं ! भाभी के पास भी चलना है।

शारदा--[उठकर पास आती है] अभी चलूंगी पर आपने कुछ सुना भी है।

देवराज--क्या ?

शारदा--जीजी ने अपना जेवर बेच दिया।

देवराज--जानता हूँ शारदा ! भाभी महेश को रुड़की कालेज भेजना चाहती हैं। जेवर इसी दिन के लिये बनता है।

शारदा--और आपके भाई साहब ने दुकान उठाने का निश्चय कर लिया है।

देवराज--[चौंकता है] यह किसने कहा तुमसे ?

शारदा--अभी-अभी रामकिशोर की बहू कह रही थी। उन्हीं के साझे में वे चमड़े की दुकान खोलेंगे।

देवराज--अच्छा ! [अचरज]

शारदा--और रुई का व्यापार भी करेंगे।

देवराज--[हत भ्रम-सा] भइया रुई का व्यापार करेंगे।

शारदा--जी हाँ। अब से खूब रुपया कमाना चाहते हैं।

देवराज--[म्लान होता है] सचमुच ?

शारदा--और नहीं तो ये सब बातें क्या माने रखती हैं ?

देवराज--शायद तुम ठीक कहती हो। उन्हें रुपयों की जरूरत है। भाभी ने मुझसे भी कहा था।

शारदा--[अचरज से] क्या कहा था ?

देवराज--मैं भइया की दुकान गिरवी रखकर उन्हें तीन हजार रुपये दे दूं।

शारदा--[उत्सुकता से] फिर

देवराज--फिर क्या ? मैंने मना कर दिया।

शारदा--[सन्तोष की सांस लेकर] आपने ठीक किया। सगे

सम्बन्धियों से लेन-देन करके कौन आफत मोल ले।

देवराज— लेकिन भइया तो बड़े सीधे-साधे आदमी हैं। इतना काम कैसे करेंगे।

शारदा—[मुस्कराती है] घर में जीजी तो हैं। वे सब कुछ समझती हैं।

शारदा—और फिर मज़े की बात है। उस पर उन्हें कितनी आशाएं हैं।

देवराज—[एक दम उदास होता है] हाँ, शारदा। तुम ठीक कहती हो। आशा सब कुछ करा लेती......

[तभी रमेश का तेज़ स्वर पास आता है।]

रमेश—चाची, चाची-ई-ई......।

शारदा—क्या है रमेश ?

[रमेश का प्रवेश]

रमेश—चाची तुम जा रही हो। मैं भी चलूंगा।

शारदा—[हँसकर] चलेगा ?

रमेश—हाँ।

शारदा—जीजी से पूछा तूने।

रमेश—पूछा था चाची ! भाभी ने कहा है जी करता है तो चला जा।

शारदा—[देवराज से] इसे ले चलो जी। अकेले जी भी नहीं लगेगा और फिर···

देवराज—तो ले चलो। लेकिन मुझे एक काम याद आ गया। ज़रा बाज़ार हो आऊं। भाभी के पास सन्ध्या को चलेंगे।

रमेश—चाची जी, भाभी ने कहा है, शाम को खाना वहीं खाना।

शारदा—अच्छा रे, पर अब तू मेरा काम करना, चल।

[शारदा मुस्कराती-मुस्कराती उसे पकड़कर अन्दर ले जाती है।

देवराज एक बार उन्हें देखकर हँसता है फिर उदास होकर बाहर चला जाता है। दूर कहीं घण्टा बजता है।]

पाँचवां दृश्य

समय—संध्याकाल।

स्थान—देवराज का घर।

[शारदा ने सब सामान संभाल लिया है। नौकर बिस्तर बांधने में व्यस्त हैं और वह ट्रंक, सूटकेस गिन रही है। स्त्रियां अब भी आ-जा रही हैं। शारदा काफ़ी थकी जान पड़ती है। उसका सुन्दर चेहरा उतर रहा है। बोलती-बोलती रो उठती है। बार-बार आतुरता से बाहर झाँक लेती है। सहसा बिजली का प्रकाश चमक उठता है। तभी देवराज मन्द-मन्द गति से वहाँ आता है। हाथ में एक कागज लिये है। शारदा शीघ्रता से आगे बढ़ आती है।]

शारदा—बड़ी देर कर दी आपने, कहां चले गये थे और आपके हाथ में क्या है ?

देवराज—[गम्भीरता से] यह भइया की दुकान का कागज है।

शारदा—[कांपकर] क्या...आ...आ ?

देवराज—हां शारदा ! मैंने भइया की दुकान गिरवी रखकर उन्हें तीन हजार रुपये दे दिये हैं।

[कागज फाड़ने लगता है।]

शारदा—[हतभ्रम होकर] लेकिन इसे फाड़ क्यों रहे हैं ?

देवराज—[अनसुना करके] आग जलाई है शारदा।

शारदा—आग...। क्यों ?

देवराज—बेशक आग ! शारदा ! सोचता हूं कल को पागल न हो जाऊं। इसलिये इस कागज को समूल नष्ट कर देना चाहता हूं।

शारदा—क्या कह रहे हैं आप ? तीन हज़ार रुपये क्या इसी तरह

फेंक दिये जायेंगे ?

देवराज---नहीं शारदा। भाभी को मैं जानता हूं। उन्हीं की गोद में पलकर इतना बड़ा हुआ हूं।

शारदा—लेकिन...

देवराज—[बीच ही में] और सुनो। होंगे तो भइया रुपये रखेंगे नहीं, यह भी जान लो कि वे देने आवेंगे तो लौटाऊंगा भी नहीं। ब्याज तक ले लूंगा व्यवहार की बात है।

शारदा—[चिन्तित होकर] मैं नहीं जानती तुम्हें क्या होता जा रहा है।

देवराज—[हँसता है] यह तो मैं भी नहीं जानता। भाभी से जब मैंने कहा कि मैं दुकान गिरवी रखकर रुपये दे दूँगा तो वे रो पड़ीं। सच कहता हूँ शारदा जीवन में पहली बार आज मैंने भाभी को रोते देखा। मैं हँसता हूं। तुम गुस्सा करती हो, करो। परन्तु मैंने भाभी को आज रोते देख लिया...

[कागज़ को जल्दी फाड़ कर रसोई-घर की आग में डाल देता है। उसमें आग बुझ चली है, कागज़ गिरने पर धुँआं उठता है।

सुनो शारदा ! रोने हँसने का यह सीन यहीं समाप्त होता है। प्रार्थना करता हूँ दुनिया इस समाप्ति को न जाने। और देखो, मैं अब भाभी के पास नहीं जाऊँगा। तुम जा सकती हो, लेकिन रमेश के बारे में कुछ मत कहना। भाभी कहे तो ले चलना। कहीं......

[आगे वह नहीं बोल सकता। धीरे-धीरे कागज़ के टुकड़े को कुरेद-कुरेद कर जलाता है। शारदा क्षण-भर स्तम्भित, चकित, उन्हें देखती है। फिर सहसा खूँटी पर से चादर उतार लेती है।]

शारदा—लेकिन मुझे तो एक बार जीजी से मिलना ही है। एक बार उनके चरण छूने ही हैं। नहीं तो दुनिया क्या कहेगी।

देवराज—हाँ हाँ तुम जाओ शारदा। वे तुम्हें इस बात का

पता भी नहीं लगने देंगी।

[शारदा तब बाहर जाती है। नौकर साथ है। वहां केवल देव-रह जाता है। वह बिजली के प्रकाश में अँगीठी की आग के बनते हुए रंगों को देखता रहता है। धीरे-धीरे उसके मुख का रंग भी पलटता है, और आंसुओं की दो बड़ी-बड़ी बूँदें अंगीठो में गिर पड़ती हैं। एक धीमा-सा शब्द होता है और फिर निस्तब्धता छा जाती है।]